

AA Jhg fj% AA

JhenHkXonxhrrk ; Fkk: i

# विषय-सूची

पृष्ठभूमि .....	आ-११
आमुख .....	आ-१५
भूमिका .....	१

## अध्याय एक

### कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में सैन्य निरीक्षण . . . . . २९

शक्तिशाली योद्धा अर्जुन युद्धाभिमुख विपक्षी सेनाओं में अपने निकट सम्बन्धियों, शिक्षकों तथा मित्रों को युद्ध में अपना-अपना जीवन उत्सर्ग करने के लिए उद्यत देखता है। वह शोक तथा करुणा से अभिभूत होकर अपनी शक्ति खो देता है, उसका मन मोहग्रस्त हो जाता है और वह युद्ध करने के अपने संकल्प को त्याग देता है।

## अध्याय दो

### गीता का सार . . . . . ५२

अर्जुन शिष्य-रूप में कृष्ण की शरण ग्रहण करता है और कृष्ण उससे नश्वर भौतिक शरीर तथा नित्य आत्मा के मूलभूत अन्तर की व्याख्या करते हुए अपना उपदेश प्रारम्भ करते हैं। भगवान् उसे देहान्तरण की प्रक्रिया, परमेश्वर की निष्काम सेवा तथा स्वरूपसिद्ध व्यक्ति के गुणों से अवगत कराते हैं।

## अध्याय तीन

### कर्मयोग . . . . . १११

इस भौतिक जगत में हर व्यक्ति को किसी न किसी प्रकार के कर्म में प्रवृत्त होना पड़ता है। किन्तु ये ही कर्म उसे इस जगत से बाँधते या मुक्त कराते हैं। निष्काम भाव से परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए कर्म करने से मनुष्य कर्म के नियम से छूट सकता है और आत्मा तथा परमेश्वर विषयक दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

## अध्याय चार

### दिव्य ज्ञान . . . . . १४४

आत्मा, ईश्वर तथा इन दोनों से सम्बन्धित दिव्य ज्ञान शुद्ध करने, तथा मोक्ष प्रदान करने वाला है। ऐसा ज्ञान कर्मयोग का फल है। भगवान् गीता के प्राचीन इतिहास, इस भौतिक जगत में



बारम्बार अपने अवतरण की महत्ता तथा गुरु के पास जाने की आवश्यकता का उपदेश देते हैं।

अध्याय पाँच

## कर्मयोग-कृष्णभावनाभावित कर्म ..... १८१

ज्ञानी पुरुष दिव्य ज्ञान की अग्नि से शुद्ध होकर बाह्यतः सारे कर्म करता है, किन्तु अन्तर में उन कर्मों के फल का परित्याग करता हुआ शान्ति, विरक्ति, सहिष्णुता, आध्यात्मिक दृष्टि तथा आनन्द की प्राप्ति करता है।

अध्याय छह

## ध्यानयोग ..... २०३

अष्टांगयोग मन तथा इन्द्रियों को नियन्त्रित करता है और ध्यान को परमात्मा पर केन्द्रित करता है। इस विधि की परिणति समाधि में होती है।

अध्याय सात

## भगवद्ज्ञान ..... २३९

भगवान् कृष्ण समस्त कारणों के कारण, परम सत्य हैं। महात्मागण भक्तिपूर्वक उनकी शरण ग्रहण करते हैं, किन्तु अपवित्र जन पूजा के अन्य विषयों की ओर अपने मन को मोड़ देते हैं।

अध्याय आठ

## भगवत्प्राप्ति ..... २७१

भक्तिपूर्वक भगवान् कृष्ण का आजीवन स्मरण करते रहने से और विशेषतया मृत्यु के समय ऐसा करने से मनुष्य परम धाम को प्राप्त कर सकता है।

अध्याय नौ

## परम गुह्य ज्ञान ..... २९३

भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं और पूज्य हैं। भक्ति के माध्यम से जीव उनसे शाश्वत सम्बद्ध है। शुद्ध भक्ति को जागृत करके मनुष्य कृष्ण के धाम को वापस जाता है।

अध्याय दस

## श्रीभगवान् का ऐश्वर्य ..... ३३०

बल, सौन्दर्य, ऐश्वर्य या उत्कृष्टता प्रदर्शित करने वाली समस्त अद्भुत घटनाएँ, चाहे वे इस



लोक में हों या आध्यात्मिक जगत में, कृष्ण की दैवी शक्तियों एवं ऐश्वर्यों की आंशिक अभिव्यक्तियाँ हैं। समस्त कारणों के कारण-स्वरूप तथा सर्वस्वरूप कृष्ण समस्त जीवों के परम पूजनीय हैं।

### अध्याय ग्यारह

## विराट रूप ..... ३६२

भगवान् कृष्ण अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं और विश्व-रूप में अपना अद्भुत असीम रूप प्रकट करते हैं। इस प्रकार वे अपनी दिव्यता स्थापित करते हैं। कृष्ण बतलाते हैं कि उनका सर्व आकर्षक मानव-रूप ही ईश्वर का आदि रूप है। मनुष्य शुद्ध भक्ति के द्वारा ही इस रूप का दर्शन कर सकता है।

### अध्याय बारह

## भक्तियोग ..... ३९९

कृष्ण के शुद्ध प्रेम को प्राप्त करने का सबसे सुगम एवं सर्वोच्च साधन भक्तियोग है। इस परम पथ का अनुसरण करने वालों में दिव्य गुण उत्पन्न होते हैं।

### अध्याय तेरह

## प्रकृति, पुरुष तथा चेतना ..... ४१६

जो व्यक्ति शरीर, आत्मा तथा इनसे भी परे परमात्मा के अन्तर को समझ लेता है, उसे इस भौतिक जगत से मोक्ष प्राप्त होता है।

### अध्याय चौदह

## प्रकृति के तीन गुण ..... ४४६

सारे देहधारी जीव भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के अधीन हैं—ये हैं सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। कृष्ण बतलाते हैं कि ये गुण क्या हैं? ये हम पर किस प्रकार क्रिया करते हैं? कोई इनको कैसे पार कर सकता है? और दिव्य पद को प्राप्त व्यक्ति के कौन-कौन से लक्षण हैं?

### अध्याय पन्द्रह

## पुरुषोत्तम योग ..... ४६५

वैदिक ज्ञान का चरम लक्ष्य अपने आपको भौतिक जगत के पाश से विलग करना तथा कृष्ण को भगवान् मानना है। जो कृष्ण के परम स्वरूप को समझ लेता है, वह उनकी शरण ग्रहण करके उनकी भक्ति में लग जाता है।



## अध्याय सोलह

**दैवी तथा आसुरी स्वभाव ..... ४८४**

शास्त्रों के नियमों का पालन न करके मनमाने ढंग से जीवन व्यतीत करने वाले तथा आसुरी गुणों वाले व्यक्ति अधम योनियों को प्राप्त होते हैं और आगे भी भवबन्धन में पड़े रहते हैं। किन्तु दैवी गुणों से सम्पन्न तथा शास्त्रों को आधार मानकर नियमित जीवन बिताने वाले लोग आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करते हैं।

## अध्याय सत्रह

**श्रद्धा के विभाग ..... ५०४**

भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से तीन प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न होती है। रजोगुण तथा तमोगुण में श्रद्धापूर्वक किये गये कर्मों से अस्थायी फल प्राप्त होते हैं, जबकि शास्त्र-सम्मत विधि से सतोगुण में रहकर सम्पन्न कर्म हृदय को शुद्ध करते हैं। ये भगवान् कृष्ण के प्रति शुद्ध श्रद्धा तथा भक्ति उत्पन्न करने वाले होते हैं।

## अध्याय अठारह

**उपसंहार-संन्यास की सिद्धि ..... ५२०**

कृष्ण वैराग्य का अर्थ और मानवीय चेतना तथा कर्म पर प्रकृति के गुणों का प्रभाव समझाते हैं। वे ब्रह्म-अनुभूति, भगवद्गीता की महिमा तथा भगवद्गीता के चरम निष्कर्ष को समझाते हैं। यह चरम निष्कर्ष यह है कि धर्म का सर्वोच्च मार्ग भगवान् कृष्ण की परम शरणागति है जो पूर्ण प्रकाश प्रदान करने वाली है और मनुष्य को कृष्ण के नित्य धाम को वापस जाने में समर्थ बनाती है।

## परिशिष्ट

द्वितीय संस्करण के विषय में टिप्पणी .....	५६४
लेखक परिचय .....	५६६
सन्दर्भ .....	५६९
श्लोकानुक्रमणिका .....	५७०



# पृष्ठभूमि

**य**द्यपि भगवद्गीता का व्यापक प्रकाशन और पठन होता रहा है, किन्तु मूलतः यह संस्कृत महाकाव्य महाभारत की एक घटना रूप में प्राप्त है। महाभारत में वर्तमान कलियुग तक की घटनाओं का विवरण मिलता है। इसी युग के प्रारम्भ में आज से लगभग ५,००० वर्ष पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मित्र तथा भक्त अर्जुन को भगवद्गीता सुनाई थी।

उनकी यह वार्ता, जो मानव इतिहास की सबसे महान दार्शनिक तथा धार्मिक वार्ता है, उस महायुद्ध के शुभारम्भ के पूर्व हुई, जो धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों तथा उनके चचेरे भाई पाण्डवों के मध्य होने वाला था।

धृतराष्ट्र तथा पाण्डु भाई-भाई थे जिनका जन्म कुरुवंश में हुआ था और जो राजा भरत के वंशज थे, जिनके नाम पर ही महाभारत नाम पड़ा। चूँकि बड़ा भाई धृतराष्ट्र जन्म से अंधा था, अतएव राजसिंहासन उसे न मिलकर उसके छोटे भाई पाण्डु को मिला।

पाण्डु की मृत्यु बहुत ही कम आयु में हो गई, अतएव उसके पाँच पुत्र—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव धृतराष्ट्र की देखरेख में रख दिये गये, क्योंकि उसे कुछ काल के लिए राजा बना दिया गया था। इस तरह धृतराष्ट्र तथा पाण्डु के पुत्र एक ही राजमहल में बड़े हुए। दोनों ही को गुरु द्रोण द्वारा सैन्यकला का प्रशिक्षण दिया गया और पूज्य भीष्म पितामह उन्हें सलाह देते रहते थे।

इतने पर भी धृतराष्ट्र का सबसे बड़ा पुत्र दुर्योधन पाण्डवों से घृणा और ईर्ष्या करता था और अन्धा तथा दुर्बलहृदय धृतराष्ट्र पाण्डुपुत्रों के बजाय अपने पुत्रों को राज्य का उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। इस तरह धृतराष्ट्र के परामर्श से दुर्योधन ने पाण्डु के युवा पुत्रों को जान से मार डालने का षड्यन्त्र रचा। पाँचों पाण्डव अपने चाचा विदुर तथा अपने ममेरे भाई कृष्ण के संरक्षण में रहने के कारण अपने प्राणों की रक्षा करते रहे।

कृष्ण कोई सामान्य व्यक्ति नहीं, अपितु साक्षात् परम ईश्वर हैं जिन्होंने इस धराधाम में अवतार लिया था और अब एक राजकुमार की भूमिका अदा कर रहे थे। वे पाण्डु की पत्नी कुन्ती या पृथा के भतीजे थे। इस तरह सम्बन्धी के रूप में तथा धर्म के पालक होने के कारण वे पाण्डुपुत्रों का पक्ष लेते रहे और उनकी रक्षा करते रहे।

किन्तु अन्ततः चतुर दुर्योधन ने पाण्डवों को जुआ खेलने के लिए ललकारा। उस निर्णायक स्पर्धा में दुर्योधन तथा उसके भाइयों ने पाण्डवों की सती पत्नी द्रौपदी पर अधिकार प्राप्त कर लिया और फिर उसे राजाओं तथा राजकुमारों की सभा के मध्य निर्वस्त्र करने का प्रयास किया। कृष्ण के दैवी हस्तक्षेप से उसकी रक्षा हो सकी, किन्तु जुए में हार जाने के कारण पाण्डवों को अपने राज्य से हाथ धोना पड़ा और तेरह वर्ष



तक वनवास के लिए जाना पड़ा।

वनवास से लौटकर पाण्डवों ने दुर्योधन से अपना राज्य माँगा, किन्तु उसने देने से इनकार कर दिया। पाँचों पाण्डवों ने अन्त में अपना पूरा राज्य न माँगकर केवल पाँच गाँवों की माँग रखी, किन्तु दुर्योधन सुई की नोक भर भी भूमि देने के लिए राजी नहीं हुआ।

अभी तक तो पाण्डव सहनशील बने रहे, लेकिन अब उनके लिए युद्ध करना अवश्यम्भावी हो गया।

विश्वभर के राजकुमारों में से कुछ धृतराष्ट्र के पुत्रों के पक्ष में थे, तो कुछ पाण्डवों के पक्ष में। उस समय कृष्ण पाण्डुपुत्रों के संदेशवाहक बनकर शान्ति की याचना के लिए धृतराष्ट्र के दरबार में गये। जब उनकी याचना अस्वीकृत हो गई, तो युद्ध निश्चित था।

अत्यन्त सच्चरित्र पाँचों पाण्डवों ने कृष्ण को भगवान् के रूप में पहचान लिया था, किन्तु धृतराष्ट्र के दुष्ट पुत्र उन्हें नहीं समझ पाये थे। फिर भी कृष्ण ने विपक्षियों की इच्छानुसार ही युद्ध में सम्मिलित होने का प्रस्ताव रखा। ईश्वर के रूप में वे युद्ध नहीं कर सकते थे, किन्तु जो भी उनकी सेना का उपयोग करना चाहे, कर सकता था। राजनीति में कुशल दुर्योधन ने कृष्ण की सेना झपट ली, जबकि पाण्डवों ने कृष्ण को लिया।

इस प्रकार कृष्ण अर्जुन के सारथी बने और उन्होंने उस सुप्रसिद्ध धनुर्धर का रथ हाँकना स्वीकार किया। इस तरह हम उस बिन्दु तक पहुँच जाते हैं जहाँ से भगवद्गीता का शुभारम्भ होता है—दोनों ओर की सेनाएँ युद्ध के लिए तैयार खड़ी हैं और धृतराष्ट्र अपने सचिव सज्जय से पूछ रहा है कि उन सेनाओं ने क्या किया?

इस तरह सारी पृष्ठभूमि तैयार है। आवश्यकता है केवल इस अनुवाद तथा भाष्य के विषय में संक्षिप्त टिप्पणी की।

भगवद्गीता के अंग्रेजी अनुवादकों में यह सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे अपनी विचारधारा तथा दर्शन को स्थान देने के लिए कृष्ण को ताक पर रख देते हैं। वे महाभारत के इतिहास को पौराणिक कथा मानकर कृष्ण को निमित्त बनाते हैं, किसी अज्ञात प्रतिभाशाली व्यक्ति के विचारों को पद्य रूप में प्रस्तुत करने का, या फिर बहुत हुआ तो कृष्ण को एक गौण ऐतिहासिक पुरुष बना दिया जाता है। किन्तु साक्षात् कृष्ण भगवद्गीता के लक्ष्य तथा विषयवस्तु दोनों हैं जैसा कि गीता स्वयं अपने विषय में कहती है।

अतः यह अनुवाद तथा इसी के साथ दिया हुआ भाष्य पाठक को कृष्ण की ओर निर्देशित करता है, उनसे दूर नहीं ले जाता। इस दृष्टि से भगवद्गीता यथारूप अनुपम है। साथ ही इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस तरह यह पूर्णतया ग्राह्य तथा संगत बन जाती है। चूँकि गीता के वक्ता एवं उसी के साथ चरम लक्ष्य भी स्वयं कृष्ण हैं अतएव यही एकमात्र ऐसा अनुवाद है जो इस महान शास्त्र को सही रूप में प्रस्तुत करता है।



# आमुख

**स**र्वप्रथम मैंने भगवद्गीता यथारूप इसी रूप में लिखी थी जिस रूप में अब यह प्रस्तुत की जा रही है। दुर्भाग्यवश जब पहली बार इसका प्रकाशन हुआ तो मूल पाण्डुलिपि को छोटा कर दिया गया जिससे अधिकांश श्लोकों की व्याख्याएँ छूट गई थीं। मेरी अन्य सारी कृतियों में पहले मूल श्लोक दिये गये हैं, फिर उनका अंग्रेजी में लिप्यन्तरण, तब संस्कृत शब्दों का अंग्रेजी में अर्थ, फिर अनुवाद और अन्त में तात्पर्य रहता है। इससे कृति प्रामाणिक तथा विद्वत्तापूर्ण बन जाती है और उसका अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाता है। अतः जब मुझे अपनी मूल पाण्डुलिपि को छोटा करना पड़ा तो मुझे कोई प्रसन्नता नहीं हुई। किन्तु जब भगवद्गीता यथारूप की माँग बढ़ी तब तमाम विद्वानों तथा भक्तों ने मुझसे अनुरोध किया कि मैं इस कृति को इसके मूल रूप में प्रस्तुत करूँ। अतएव ज्ञान की इस महान कृति को मेरी मूल पाण्डुलिपि का रूप प्रदान करने के लिए वर्तमान प्रयास किया गया है जो पूर्ण परम्परागत व्याख्या से युक्त है, जिससे कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन की अधिक प्रगतिशील एवं पुष्ट स्थापना की जा सके।

हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन मौलिक ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक, सहज तथा दिव्य है क्योंकि यह भगवद्गीता यथारूप पर आधारित है। यह सम्पूर्ण जगत में, विशेषतया नई पीढ़ी के बीच, अति लोकप्रिय हो रहा है। यह प्राचीन पीढ़ी के बीच भी अधिकाधिक सुरुचि प्रदान करने वाला है। प्रौढ़ इसमें इतनी रुचि दिखा रहे हैं कि हमारे शिष्यों के पिता तथा पितामह हमारे संघ के आजीवन सदस्य बनकर हमारा उत्साहवर्धन कर रहे हैं। लॉस एंजिलिस में अनेक माताएँ तथा पिता मेरे पास यह कृतज्ञता व्यक्त करने आते थे कि मैं सारे विश्व में कृष्णभावनामृत आन्दोलन की अगुआई कर रहा हूँ। उनमें से कुछ लोगों ने कहा कि अमरीकी लोग बड़े ही भाग्यशाली हैं कि मैंने अमरीका में कृष्णभावनामृत आन्दोलन का शुभारम्भ किया है। किन्तु इस आन्दोलन के आदि प्रवर्तक तो स्वयं भगवान् कृष्ण हैं, क्योंकि यह आन्दोलन बहुत काल पूर्व प्रवर्तित हो चुका था और परम्परा द्वारा यह मानव समाज में चलता आ रहा है। यदि इसका किञ्चित्मात्र श्रेय है तो वह मुझे नहीं, अपितु मेरे गुरु कृष्णकृपाश्रीमूर्ति ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्य १०८ श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज प्रभुपाद के कारण है।

यदि इसका कुछ भी श्रेय मुझे है तो बस इतना ही कि मैंने बिना किसी मिलावट



के भगवद्गीता को यथारूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मेरे इस प्रस्तुतीकरण के पूर्व भगवद्गीता के जितने भी अंग्रेजी संस्करण निकले हैं उनमें व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा को व्यक्त करने के प्रयास दिखते हैं। किन्तु भगवद्गीता यथारूप प्रस्तुत करते हुए हमारा प्रयास भगवान् कृष्ण के सन्देश (मिशन) को प्रस्तुत करना रहा है। हमारा कार्य तो कृष्ण की इच्छा को प्रस्तुत करना है, न कि किसी राजनीतिज्ञ, दार्शनिक या विज्ञानी की संसारी इच्छा को, क्योंकि इनमें चाहे कितना ही ज्ञान क्यों न हो, कृष्ण विषयक ज्ञान रंचमात्र भी नहीं पाया जाता। जब कृष्ण कहते हैं—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*— तो हम तथाकथित पण्डितों की तरह यह नहीं कहते कि कृष्ण तथा उनकी अन्तरात्मा पृथक्-पृथक् हैं। कृष्ण परब्रह्म हैं और कृष्ण के नाम, उनके रूप, उनके गुणों, उनकी लीलाओं आदि में अन्तर नहीं है। जो व्यक्ति परम्परागत कृष्ण भक्त नहीं है उसके लिए कृष्ण के सर्वोच्च ज्ञान को समझ पाना कठिन है। सामान्यतया तथाकथित विद्वान्, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक तथा स्वामी कृष्ण के सम्यक् ज्ञान के बिना भगवद्गीता पर भाष्य लिखते समय या तो कृष्ण को उसमें से निकाल फेंकना चाहते हैं या उनको मार डालना चाहते हैं। भगवद्गीता का ऐसा अप्रामाणिक भाष्य मायावादी भाष्य कहलाता है और श्री चैतन्य महाप्रभु हमें ऐसे अप्रामाणिक लोगों से सावधान कर गये हैं। वे कहते हैं कि जो भी व्यक्ति भगवद्गीता को मायावादी दृष्टि से समझने का प्रयास करता है वह बहुत बड़ी भूल करेगा। ऐसी भूल का दुष्परिणाम यह होगा कि भगवद्गीता के दिग्भ्रमित जिज्ञासु आध्यात्मिक मार्गदर्शन के मार्ग में मोहग्रस्त हो जायेंगे और वे भगवद्धाम वापस नहीं जा सकेंगे।

भगवद्गीता यथारूप को प्रस्तुत करने का एकमात्र उद्देश्य बद्ध जिज्ञासुओं को उस उद्देश्य का मार्गदर्शन कराना है, जिसके लिए कृष्ण इस धरा पर ब्रह्मा के एक दिन में एक बार अर्थात् प्रत्येक ८,६०,००,००,००० वर्ष बाद अवतार लेते हैं। भगवद्गीता में इस उद्देश्य का उल्लेख हुआ है और हमें उसे उसी रूप में ग्रहण कर लेना चाहिए अन्यथा भगवद्गीता तथा उसके वक्ता भगवान् कृष्ण को समझने का कोई अर्थ नहीं है। भगवान् कृष्ण ने सबसे पहले लाखों वर्ष पूर्व सूर्यदेव से भगवद्गीता का प्रवचन किया था। हमें इस तथ्य को स्वीकार करना होगा और कृष्ण के प्रमाण की गलत व्याख्या किये बिना भगवद्गीता के ऐतिहासिक महत्त्व को समझना होगा। कृष्ण की इच्छा का सन्दर्भ दिये बिना भगवद्गीता की व्याख्या करना महान अपराध है। इस अपराध से बचने के लिए कृष्ण को भगवान् रूप में समझना होगा जिस तरह से कृष्ण के प्रथम शिष्य अर्जुन ने उन्हें समझा था। भगवद्गीता का ऐसा ज्ञान वास्तव में लाभप्रद है और जीवन-उद्देश्य को पूरा करने में मानव समाज के कल्याण हेतु प्रामाणिक भी होगा।

मानव समाज में कृष्णभावनामृत आन्दोलन अनिवार्य है क्योंकि यह जीवन की चरम सिद्धि प्रदान करने वाला है। ऐसा क्यों है, इसकी पूरी व्याख्या भगवद्गीता में हुई है।



दुर्भाग्यवश संसारी झगड़ालू व्यक्तियों ने अपनी आसुरी लालसाओं को अग्रसर करने तथा लोगों को जीवन के सिद्धान्तों को ठीक से न समझने देने में भगवद्गीता से लाभ उठाया है। प्रत्येक व्यक्ति को जानना चाहिए कि ईश्वर या कृष्ण कितने महान हैं और जीवों की वास्तविक स्थितियाँ क्या हैं? प्रत्येक व्यक्ति को यह जान लेना चाहिए कि “जीव” नित्य दास है और जब तक वह कृष्ण की सेवा नहीं करेगा, तब तक वह जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ता रहेगा, यहाँ तक कि मायावादी चिन्तक को भी इसी चक्र में पड़ना होगा। यह ज्ञान एक महान विज्ञान है और हर प्राणी को अपने हित के लिए इस ज्ञान को सुनना चाहिए।

इस कलियुग में सामान्य जनता कृष्ण की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहित है और उसे यह भ्रान्ति है कि भौतिक सुविधाओं की प्रगति से हर व्यक्ति सुखी बन सकेगा। उसे इसका ज्ञान नहीं है कि भौतिक या बहिरंगा प्रकृति अत्यन्त प्रबल है, क्योंकि हर प्राणी प्रकृति के कठोर नियमों द्वारा बुरी तरह से जकड़ा हुआ है। सौभाग्यवश जीव भगवान् का अंश-रूप है अतएव उसका सहज कार्य है—भगवान् की सेवा करना। मोहवश मनुष्य विभिन्न प्रकारों से अपनी इन्द्रियतृप्ति करके सुखी बनना चाहता है, किन्तु इससे वह कभी भी सुखी नहीं हो सकता। अपनी भौतिक इन्द्रियों को तुष्ट करने के बजाय उसे भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करने का प्रयास करना चाहिए। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है। भगवान् यही चाहते हैं और इसी की अपेक्षा रखते हैं। मनुष्य को भगवद्गीता के इस केन्द्रबिन्दु को समझना होगा। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन पूरे विश्व को इसी केन्द्रबिन्दु की शिक्षा देता है। जो भी व्यक्ति भगवद्गीता का अध्ययन करके लाभान्वित होना चाहता है वह हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन से इस सम्बन्ध में सहायता प्राप्त कर सकता है। अतः हमें आशा है कि हम भगवद्गीता यथारूप को जिस रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे मानव लाभ उठायेंगे और यदि एक भी व्यक्ति भगवद्भक्त बन सके, तो हम अपने प्रयास को सफल मानेंगे।



# भूमिका



ॐ अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।  
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥  
श्री चैतन्यमनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले ।  
स्वयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम् ॥

मैं घोर अज्ञान के अंधकार में उत्पन्न हुआ था, और मेरे गुरु ने अपने ज्ञान रूपी प्रकाश से मेरी आँखें खोल दीं। मैं उन्हें सादर नमस्कार करता हूँ।

श्रील रूप गोस्वामी प्रभुपाद कब मुझे अपने चरणकमलों में शरण प्रदान करेंगे, जिन्होंने इस जगत् में भगवान् चैतन्य की इच्छा की पूर्ति के लिए प्रचार योजना(मिशन) की स्थापना की है?

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुतपदकमलं श्रीगुरून् वैष्णवांश्च ।  
श्रीरूपं साग्रजातं सहगणरघुनाथान्वितं तं सजीवम् ॥  
साद्वैतं सावधूतं परिजनसहितं कृष्णचैतन्यदेवं ।  
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगणललिताश्रीविशाखान्वितांश्च ॥



मैं अपने गुरु के चरणकमलों को तथा समस्त वैष्णवों के चरणों को नमस्कार करता हूँ। मैं श्रील रूप गोस्वामी तथा उनके अग्रज सनातन गोस्वामी एवं साथ ही रघुनाथदास, रघुनाथभट्ट, गोपालभट्ट एवं श्रील जीव गोस्वामी के चरणकमलों को सादर नमस्कार करता हूँ। मैं भगवान् कृष्णचैतन्य तथा भगवान् नित्यानन्द के साथ-साथ अद्वैत आचार्य, गदाधर, श्रीवास तथा अन्य पार्षदों को सादर प्रणाम करता हूँ। मैं श्रीमती राधा रानी तथा श्रीकृष्ण को श्रीललिता तथा श्रीविशाखा सखियों सहित सादर नमस्कार करता हूँ।

हे कृष्ण करुणासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते।

गोपेश गोपिकाकान्त राधाकान्त नमोऽस्तु ते॥

हे कृष्ण! आप दुखियों के सखा तथा सृष्टि के उद्गम हैं। आप गोपियों के स्वामी तथा राधारानी के प्रेमी हैं। मैं आपको सादर प्रणाम करता हूँ।

तप्तकाञ्चनगौरांगि राधे वृन्दावनेश्वरि।

वृषभानुसुते देवि प्रणमामि हरिप्रिये॥

मैं उन राधारानी को प्रणाम करता हूँ जिनकी शारीरिक कान्ति पिघले सोने के सदृश है, जो वृन्दावन की महारानी हैं। आप राजा वृषभानु की पुत्री हैं और भगवान् कृष्ण को अत्यन्त प्रिय हैं।

वाञ्छा कल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।

पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

मैं भगवान् के समस्त वैष्णव भक्तों को सादर नमस्कार करता हूँ। वे कल्पवृक्ष के समान सबों की इच्छाएँ पूर्ण करने में समर्थ हैं, तथा पतित जीवात्माओं के प्रति अत्यन्त दयालु हैं।

श्रीकृष्ण-चैतन्य प्रभु-नित्यानन्द ।

श्रीअद्वैत गदाधर श्रीवासादि गौरभक्तवृन्द॥

मैं श्रीकृष्ण चैतन्य, प्रभु नित्यानन्द, श्रीअद्वैत, गदाधर, श्रीवास आदि समस्त भक्तों को सादर प्रणाम करता हूँ।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥



भगवद्गीता को गीतोपनिषद् भी कहा जाता है। यह वैदिक ज्ञान का सार है और वैदिक साहित्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है। निस्सन्देह भगवद्गीता पर अँग्रेजी भाषा में अनेक भाष्य प्राप्त हैं, अतएव यह प्रश्न किया जा सकता है, कि एक अन्य भाष्य की क्या आवश्यकता है? इस प्रस्तुत संस्करण का प्रयोजन इस प्रकार बताया जा सकता है : हाल ही में एक अमरीकी महिला ने मुझसे भगवद्गीता के एक अँग्रेजी अनुवाद की संस्तुति चाही। निस्सन्देह अमरीका में भगवद्गीता के अनेक अँग्रेजी संस्करण प्राप्त हैं, लेकिन जहाँ तक मैंने देखा है, केवल अमरीका ही नहीं, अपितु भारत में भी कठिनाई से कोई प्रामाणिक संस्करण मिलेगा, क्योंकि लगभग हर एक संस्करण में भाष्यकार ने भगवद्गीता यथारूप के मर्म का स्पर्श किये बिना अपने मतों को व्यक्त किया है।

भगवद्गीता का मर्म भगवद्गीता में ही व्यक्त है। यह इस प्रकार है : यदि हमें किसी औषधि विशेष का सेवन करना हो तो उस पर लिखे निर्देशों का पालन करना होता है। हम मनमाने ढंग से या मित्र की सलाह से औषधि नहीं ले सकते। इसका सेवन लिखे हुए निर्देशों के अनुसार या चिकित्सक के आदेशानुसार करना होता है। इसी प्रकार भगवद्गीता को इसके वक्ता द्वारा दिये गये निर्देशानुसार ही ग्रहण या स्वीकार करना चाहिए। भगवद्गीता के वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण हैं। भगवद्गीता के प्रत्येक पृष्ठ पर उनका उल्लेख भगवान् के रूप में हुआ है। निस्सन्देह भगवान् शब्द कभी-कभी किसी भी अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्ति या किसी शक्तिशाली देवता के लिए प्रयुक्त होता है, और यहाँ पर भगवान् शब्द निश्चित रूप से भगवान् श्रीकृष्ण को एक महान पुरुष के रूप में सूचित करता है। किन्तु साथ ही हमें यह जानना होगा कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, जैसा कि शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क स्वामी, श्री चैतन्य महाप्रभु तथा भारत के वैदिक ज्ञान के अन्य विद्वान आचार्यों ने पुष्टि की है। भगवान् ने भी स्वयं भगवद्गीता में अपने को परम पुरुषोत्तम भगवान् कहा है और ब्रह्म-संहिता में तथा अन्य पुराणों में, विशेषतया श्रीमद्भागवतम् में, जो भागवतपुराण के नाम से विख्यात है, वे इसी रूप में स्वीकार किये गये हैं (कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्)। अतएव भगवद्गीता हमें भगवान् ने जैसे बताई है, वैसे ही स्वीकार करनी चाहिए।

भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में (४.१-३) भगवान् कहते हैं :

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।  
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥  
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।  
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥  
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।  
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

यहाँ पर भगवान् अर्जुन को सूचित करते हैं कि भगवद्गीता की यह योगपद्धति सर्वप्रथम सूर्यदेव को बताई गयी, सूर्यदेव ने इसे मनु को बताया और मनु ने इसे इक्ष्वाकु



को बताया। इस प्रकार गुरु-परम्परा द्वारा यह योगपद्धति एक वक्ता से दूसरे वक्ता तक पहुँचती रही। लेकिन कालान्तर में यह छिन्न-भिन्न हो गई, फलस्वरूप भगवान् को इसे फिर से बताना पड़ रहा है—इस बार अर्जुन को कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में।

वे अर्जुन से कहते हैं कि मैं तुम्हें यह परम रहस्य इसलिए प्रदान कर रहा हूँ, क्योंकि तुम मेरे भक्त तथा मित्र हो। इसका तात्पर्य यह है कि भगवद्गीता ऐसा ग्रन्थ है जो विशेष रूप से भगवद्भक्त के लिए ही है, भगवद्भक्त के निमित्त है। अध्यात्मवादियों की तीन श्रेणियाँ हैं—ज्ञानी, योगी तथा भक्त या कि निर्विशेषवादी, ध्यानी और भक्त। यहाँ पर भगवान् अर्जुन से स्पष्ट कहते हैं कि वे उसे इस नवीन परम्परा (गुरु-परम्परा) का प्रथम पात्र बना रहे हैं, क्योंकि प्राचीन परम्परा खण्डित हो गई थी। अतएव यह भगवान् की इच्छा थी कि सूर्यदेव से चली आ रही विचारधारा की दिशा में ही अन्य परम्परा स्थापित की जाय और उनकी यह इच्छा थी कि उनकी शिक्षा का वितरण अर्जुन द्वारा नये सिरे से हो। वे चाहते थे कि अर्जुन भगवद्गीता-ज्ञान का प्रामाणिक विद्वान् बने। अतएव हम देखते हैं कि भगवद्गीता का उपदेश अर्जुन को विशेष रूप से दिया गया, क्योंकि अर्जुन भगवान् का भक्त, प्रत्यक्ष शिष्य तथा घनिष्ठ मित्र था। अतएव जिस व्यक्ति में अर्जुन जैसे गुण पाये जाते हैं, वह गीता को सबसे अच्छी तरह समझ सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्त को भगवान् से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होना चाहिए। ज्योंही कोई भगवान् का भक्त बन जाता है त्योंही उसका सीधा सम्बन्ध भगवान् से हो जाता है। यह एक अत्यन्त विशद विषय है, लेकिन संक्षेप में यह बताया जा सकता है कि भक्त तथा भगवान् के मध्य पाँच प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है :

१. कोई निष्क्रिय अवस्था में भक्त हो सकता है;
२. कोई सक्रिय अवस्था में भक्त हो सकता है;
३. कोई सखा-रूप में भक्त हो सकता है;
४. कोई माता या पिता के रूप में भक्त हो सकता है;
५. कोई दम्पति-प्रेमी के रूप में भक्त हो सकता है।

अर्जुन का कृष्ण से सम्बन्ध सखा-रूप में था। निस्सन्देह इस मित्रता (सख्य-भाव) तथा भौतिक जगत में प्राप्य मित्रता में आकाश-पाताल का अन्तर है। यह दिव्य मित्रता है जो हर किसी को प्राप्त नहीं हो सकती। निस्सन्देह प्रत्येक व्यक्ति का भगवान् से सीधा सम्बन्ध होता है और यह सम्बन्ध भक्ति की पूर्णता से ही जागृत होता है। किन्तु वर्तमान जीवन की अवस्था में हमने न केवल भगवान् को भुला दिया है, अपितु हम भगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को भी भूल चुके हैं। लाखों-करोड़ों जीवों में से प्रत्येक जीव का भगवान् के साथ नित्य विशिष्ट सम्बन्ध है। यह स्वरूप कहलाता है। भक्तियोग की प्रक्रिया द्वारा यह स्वरूप जागृत किया जा सकता है। तब यह अवस्था स्वरूप-सिद्धि कहलाती है—यह स्वरूप की अर्थात् स्वाभाविक या मूलभूत स्थिति की पूर्णता कहलाती है। अतएव अर्जुन भक्त था और मैत्री में वह भगवान् के सम्पर्क में था।



हमें इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि अर्जुन ने भगवद्गीता को किस तरह ग्रहण किया। इसका वर्णन दशम अध्याय में (१०.१२-१४) इस प्रकार हुआ है :

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।  
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥  
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिनारदस्तथा।  
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥  
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।  
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥

“अर्जुन ने कहा: आप भगवान्, परम-धाम, पवित्रतम परम सत्य हैं। आप शाश्वत, दिव्य आदि पुरुष, अजन्मा तथा महानतम हैं। नारद, असित, देवल तथा व्यास जैसे समस्त महामुनि आपके विषय में इस सत्य की पुष्टि करते हैं और अब आप स्वयं मुझसे इसी की घोषणा कर रहे हैं। हे कृष्ण! आपने जो कुछ कहा है उसे पूर्णरूप से मैं सत्य मानता हूँ। हे प्रभु! न तो देवता और न असुर ही आपके व्यक्तित्व को समझ सकते हैं।”

भगवान् से भगवद्गीता सुनने के बाद अर्जुन ने कृष्ण को परम ब्रह्म स्वीकार कर लिया। प्रत्येक जीव ब्रह्म है, लेकिन परम पुरुषोत्तम भगवान् परम ब्रह्म हैं। परम् धाम का अर्थ है कि वे सबों के परम आश्रय या धाम हैं। पवित्रम् का अर्थ है कि वे शुद्ध हैं और भौतिक कल्मष से अरंजित हैं। पुरुषम् का अर्थ है कि वे परम भोक्ता हैं, शाश्वतम् अर्थात् सनातन; दिव्यम् अर्थात् दिव्य; आदि देवम्—भगवान्; अजम्—अजन्मा तथा विभुम् अर्थात् महानतम हैं।

कोई यह सोच सकता है कि चूँकि कृष्ण अर्जुन के मित्र थे, अतएव अर्जुन यह सब चाटुकारिता के रूप में कह रहा था। लेकिन अर्जुन भगवद्गीता के पाठकों के मन से इस प्रकार के सन्देह को दूर करने के लिए अगले श्लोक में इस प्रशंसा की पुष्टि करता है, जब वह यह कहता है कि कृष्ण को मैं ही भगवान् नहीं मानता, अपितु नारद, असित, देवल तथा व्यासदेव जैसे महापुरुष भी स्वीकार करते हैं। ये सब महापुरुष हैं जो समस्त आचार्यों द्वारा स्वीकृत वैदिक ज्ञान का वितरण (प्रचार) करते हैं। अतएव अर्जुन कृष्ण से कहता है कि वे जो कुछ भी कहते हैं, उसे वह पूर्ण सत्य मानता है। सर्वमेतदृतं मन्ये—“आप जो कुछ कहते हैं, उसे मैं सत्य मानता हूँ।” अर्जुन यह भी कहता है कि भगवान् के व्यक्तित्व को समझ पाना बहुत कठिन है, यहाँ तक कि बड़े-बड़े देवता भी उन्हें नहीं समझ पाते। अतएव मानव भक्त बने बिना भगवान् श्रीकृष्ण को कैसे समझ सकता है?

अतएव भगवद्गीता को भक्तिभाव से ग्रहण करना चाहिए। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि वह कृष्ण के तुल्य है, न ही यह सोचना चाहिए कि कृष्ण सामान्य पुरुष हैं या कि एक महानतम व्यक्ति हैं। भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान्



हैं। अतएव भगवद्गीता के कथनानुसार, या भगवद्गीता को समझने का प्रयत्न करने वाले अर्जुन के कथनानुसार हमें सिद्धान्त रूप में कम से कम इतना तो स्वीकार कर लेना चाहिए कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं, और उसी विनीत भाव से हम भगवद्गीता को समझ सकते हैं। जब तक कोई भगवद्गीता का पाठ विनम्र भाव से नहीं करता है, तब तक उसे समझ पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यह एक महान रहस्य है।

तो भगवद्गीता है क्या? भगवद्गीता का प्रयोजन मनुष्य को भौतिक संसार के अज्ञान से उबारना है। प्रत्येक व्यक्ति अनेक प्रकार की कठिनाइयों में फँसा रहता है, जिस प्रकार अर्जुन भी कुरुक्षेत्र में युद्ध करने के लिए कठिनाई में था। अर्जुन ने श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण कर ली, फलस्वरूप इस भगवद्गीता का प्रवचन हुआ। न केवल अर्जुन वरन हममें से प्रत्येक व्यक्ति इस भौतिक अस्तित्व के कारण चिन्ताओं से पूर्ण है। हमारा अस्तित्व ही अनस्तित्व के परिवेश में है। वस्तुतः हमें अनस्तित्व से भयभीत नहीं होना चाहिए। हमारा अस्तित्व सनातन है। लेकिन हम किसी न किसी कारण से असत् में डाल दिए गये हैं। असत् का अर्थ उससे है जिसका अस्तित्व नहीं है।

कष्ट भोगने वाले अनेक मनुष्यों में केवल कुछ ही ऐसे हैं जो वास्तव में यह जानने के जिज्ञासु हैं कि वे क्या हैं और वे इस विषम स्थिति में क्यों डाल दिये गये हैं, आदि-आदि। जब तक मनुष्य को अपने कष्टों के विषय में जिज्ञासा नहीं होती, जब तक उसे यह अनुभूति नहीं होती कि वह कष्ट भोगना नहीं, अपितु सारे कष्टों का हल ढूँढना चाहता है, तब तक उसे सिद्ध मानव नहीं समझना चाहिए। मानवता तभी शुरू होती है जब मन में इस प्रकार की जिज्ञासा उदित होती है। ब्रह्म-सूत्र में इस जिज्ञासा को ब्रह्म-जिज्ञासा कहा गया है। अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा। मनुष्य के सारे कार्यकलाप तब तक असफल माने जाने चाहिए, जब तक वह परब्रह्म के स्वभाव के विषय में जिज्ञासा न करे। अतएव जो लोग यह प्रश्न करना प्रारम्भ कर देते हैं कि वे क्यों कष्ट उठा रहे हैं, या वे कहाँ से आये हैं और मृत्यु के बाद कहाँ जायेंगे, वे ही भगवद्गीता को समझने वाले सुपात्र विद्यार्थी हैं। निष्ठावान विद्यार्थी में भगवान् के प्रति आदर भाव भी होना चाहिए। अर्जुन ऐसा ही विद्यार्थी था।

जब मनुष्य जीवन के वास्तविक प्रयोजन को भूल जाता है तो भगवान् कृष्ण विशेष रूप से उस प्रयोजन की पुनर्स्थापना के लिए अवतार लेते हैं। तब भी असंख्य जागृत हुए लोगों में से कोई एक होता है जो वास्तव में अपनी स्थिति को जान पाता है और यह भगवद्गीता उसी के लिए कही गई है। वस्तुतः हम सभी अविद्या रूपी बाधिन के द्वारा निगल लिए गए हैं, लेकिन भगवान् जीवों पर, विशेषतया मनुष्यों पर कृपालु हैं। इसी उद्देश्य से उन्होंने अपने मित्र अर्जुन को अपना शिष्य बना कर भगवद्गीता का प्रवचन किया।

भगवान् कृष्ण का पार्षद होने के कारण अर्जुन समस्त अज्ञान (अविद्या) से मुक्त था, लेकिन कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में वह अज्ञानी बन कर भगवान् कृष्ण से जीवन की समस्याओं के विषय में प्रश्न करने लगा जिससे भगवान् उनकी व्याख्या भावी पीढ़ियों



के मनुष्यों के लाभ के लिए कर दें और जीवन की योजना का निर्धारण कर दें। तब मनुष्य तदनुसार कार्य कर पायेगा और मानव जीवन के उद्देश्य को पूर्ण कर सकेगा। भगवद्गीता की विषयवस्तु में पाँच मूल सत्त्यों का ज्ञान निहित है। सर्वप्रथम ईश्वर के विज्ञान की और फिर जीवों की स्वरूप स्थिति की विवेचना की गई है। ईश्वर का अर्थ नियन्ता है और जीवों का अर्थ है—नियन्त्रित। यदि जीव यह कहे कि वह नियन्त्रित नहीं है, अपितु स्वतन्त्र है तो समझो कि वह पागल है। जीव सभी प्रकार से, कम से कम बद्ध जीवन में, तो नियन्त्रित है ही। अतएव भगवद्गीता की विषयवस्तु ईश्वर तथा जीव से सम्बन्धित है। इसमें प्रकृति, काल (समस्त ब्रह्माण्ड की कालावधि या प्रकृति का प्राकट्य) तथा कर्म की भी व्याख्या है। यह दृश्य-जगत विभिन्न कार्यकलापों से ओतप्रोत है। सारे जीव भिन्न-भिन्न कार्यों में लगे हुए हैं। भगवद्गीता से हमें अवश्य सीखना चाहिए कि ईश्वर क्या है, जीव क्या है, प्रकृति क्या है, दृश्य-जगत क्या है, यह काल द्वारा किस प्रकार नियन्त्रित किया जाता है, और जीवों के कार्यकलाप क्या हैं?

भगवद्गीता के इन पाँच मूलभूत विषयों में से इसकी स्थापना की गई है कि भगवान्, अथवा कृष्ण, अथवा ब्रह्म, या परमात्मा, आप जो चाहें कह लें, सबसे श्रेष्ठ हैं। जीव गुण में परम-नियन्ता के ही समान हैं। उदाहरणार्थ, जैसा कि भगवद्गीता के विभिन्न अध्यायों में बताया जायेगा, भगवान् भौतिक प्रकृति के समस्त कार्यों के ऊपर नियन्त्रण रखते हैं। भौतिक प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है। वह परमेश्वर की अध्यक्षता में कार्य करती है। जैसा कि भगवान् कृष्ण कहते हैं—मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्—भौतिक प्रकृति मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है। जब हम दृश्य-जगत में विचित्र-विचित्र बातें घटते देखते हैं, तो हमें यह जानना चाहिए कि इस जगत के पीछे नियन्ता का हाथ है। बिना नियन्त्रण के कुछ भी हो पाना सम्भव नहीं। नियन्ता को न मानना बचपना होगा। उदाहरणार्थ, एक बालक सोच सकता है कि स्वतोचालित यान विचित्र होता है, क्योंकि यह बिना घोड़े के या खींचने वाले पशु से चलता है। किन्तु अभिज्ञ व्यक्ति स्वतोचालित यान की आभियान्त्रिक व्यवस्था से परिचित होता है। वह सदैव जानता है कि इस यन्त्र के पीछे एक व्यक्ति, एक चालक होता है। इसी प्रकार परमेश्वर वह चालक है जिसके निर्देशन में सब कुछ चल रहा है। भगवान् ने जीवों को अपने अंश-रूप में स्वीकार किया है, जैसा कि हम अगले अध्यायों में देखेंगे। सोने का एक कण भी सोना है, समुद्र के जल की बूँद भी खारी होती है। इसी प्रकार हम जीव भी परम-नियन्ता ईश्वर या भगवान् श्रीकृष्ण के अंश होने के कारण सूक्ष्म मात्रा में परमेश्वर के सभी गुणों से युक्त होते हैं, क्योंकि हम सूक्ष्म ईश्वर या अधीनस्थ ईश्वर हैं। हम प्रकृति पर नियन्त्रण करने का प्रयास कर रहे हैं, और इस समय हम अन्तरिक्ष या ग्रहों को वश में करना चाहते हैं, और हममें नियन्त्रण रखने की यह प्रवृत्ति इसलिए है क्योंकि यह कृष्ण में भी है। यद्यपि हममें प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने की प्रवृत्ति होती है, लेकिन हमें यह जानना चाहिए कि हम परम-नियन्ता नहीं हैं। इसकी व्याख्या भगवद्गीता में की गई है।



भौतिक प्रकृति क्या है? गीता में इसकी भी व्याख्या अपरा प्रकृति के रूप में हुई है। जीव को परा प्रकृति (उत्कृष्ट प्रकृति) कहा गया है। प्रकृति चाहे परा हो या अपरा, सदैव नियन्त्रण में रहती है। प्रकृति स्त्री-स्वरूपा है और वह भगवान् द्वारा उसी प्रकार नियन्त्रित होती है, जिस प्रकार पत्नी अपने पति द्वारा। प्रकृति सदैव अधीन रहती है, उस पर भगवान् का प्रभुत्व रहता है, क्योंकि भगवान् ही अध्यक्ष हैं। जीव तथा भौतिक प्रकृति दोनों ही परमेश्वर द्वारा अधिशासित एवं नियन्त्रित होते हैं। गीता के अनुसार यद्यपि सारे जीव परमेश्वर के अंश हैं, लेकिन वे प्रकृति ही माने जाते हैं। इसका उल्लेख भगवद्गीता के सातवें अध्याय में हुआ है। अपरेयमितस्त्वन्यां—“यह भौतिक प्रकृति मेरी अपरा प्रकृति है।” प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीव भूताम् महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ लेकिन इससे भी परे दूसरी प्रकृति है : जीव भूताम् अर्थात् जीव है।

प्रकृति तीन गुणों से निर्मित है—सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। इन गुणों के ऊपर नित्य काल है। इन गुणों तथा नित्य काल के संयोग से अनेक कार्यकलाप होते हैं, जो कर्म कहलाते हैं। ये कार्यकलाप अनादि काल से चले आ रहे हैं और हम सभी अपने कार्यकलाप (कर्मों) के फलस्वरूप सुख या दुख भोग रहे हैं। उदाहरणार्थ, मान लें कि मैं व्यापारी हूँ और मैंने बुद्धि के बल पर कठोर श्रम किया है और बहुत सम्पत्ति संचित कर ली है। तब मैं सम्पत्ति के सुख का भोक्ता हूँ किन्तु यदि मान लें कि व्यापार में मेरा सब धन जाता रहा तो मैं दुख का भोक्ता हो जाता हूँ। इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम अपने कर्म के फल का सुख भोगते हैं या उसका कष्ट उठाते हैं। यह कर्म कहलाता है।

ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल तथा कर्म इन सबकी व्याख्या भगवद्गीता में हुई है। इन पाँचों में से ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा काल शाश्वत हैं। प्रकृति की अभिव्यक्ति अस्थायी हो सकती है, परन्तु यह मिथ्या नहीं है। कोई-कोई दार्शनिक कहते हैं कि प्रकृति की अभिव्यक्ति मिथ्या है, लेकिन भगवद्गीता या वैष्णवों के दर्शन के अनुसार ऐसा नहीं है। जगत की अभिव्यक्ति को मिथ्या नहीं माना जाता। इसे वास्तविक, किन्तु अस्थायी माना जाता है। यह उस बादल के सदृश है जो आकाश में घूमता रहता है, या वर्षा ऋतु के आगमन के समान है, जो अन्न का पोषण करती है। ज्योंही वर्षा ऋतु समाप्त होती है और बादल चले जाते हैं, त्योंही वर्षा द्वारा पोषित सारी फसल सूख जाती है। इसी प्रकार यह भौतिक अभिव्यक्ति भी किसी समय में, किसी स्थान पर होती है, कुछ काल तक रहती-ठहरती है और फिर लुप्त हो जाती है। प्रकृति इस रूप में कार्यशील है। लेकिन यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। इसीलिए प्रकृति शाश्वत है, मिथ्या नहीं है। भगवान् इसे “मेरी प्रकृति” कहते हैं। यह भौतिक प्रकृति (अपरा प्रकृति) परमेश्वर की भिन्ना-शक्ति है। इसी प्रकार जीव भी परमेश्वर की शक्ति हैं, किन्तु वे विलग नहीं, अपितु भगवान् से नित्य-सम्बद्ध हैं। इस तरह भगवान्, जीव, प्रकृति तथा काल, ये सब परस्पर सम्बद्ध हैं और सभी शाश्वत हैं। लेकिन कर्म शाश्वत नहीं है। हाँ, कर्म के फल अत्यन्त पुरातन हो सकते हैं। हम अनादि काल से अपने शुभ-अशुभ कर्मफलों को भोग रहे हैं, किन्तु साथ ही हम अपने कर्मों के फल को बदल



भी सकते हैं और यह परिवर्तन हमारे ज्ञान की पूर्णता पर निर्भर करता है। हम विविध प्रकार के कर्मों में व्यस्त रहते हैं। निस्संदेह हम यह नहीं जानते कि किस प्रकार के कर्म करने से हम कर्मफल से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन भगवद्गीता में इसका भी वर्णन हुआ है।

ईश्वर अर्थात् परम ईश्वर परम चेतना-स्वरूप है। जीव भी ईश्वर का अंश होने के कारण चेतन है। जीव तथा भौतिक प्रकृति दोनों को प्रकृति बताया गया है, अर्थात् वे परमेश्वर की शक्ति हैं, किन्तु इन दोनों में से केवल जीव चेतन है, दूसरी प्रकृति चेतन नहीं है। यही अन्तर है। इसीलिए जीव प्रकृति परा या उत्कृष्ट कहलाती है, क्योंकि जीव, भगवान् जैसी चेतना से युक्त है। लेकिन भगवान् की चेतना परम है, और किसी को यह नहीं कहना चाहिए कि जीव भी परम चेतन है। जीव कभी भी, यहाँ तक कि अपनी सिद्ध अवस्था में भी, परम चेतन नहीं हो सकता और यह सिद्धान्त भ्रामक है कि जीव परम चेतन हो सकता है। वह चेतन तो है, लेकिन पूर्ण या परम चेतन नहीं।

जीव तथा ईश्वर का अन्तर भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में बताया गया है। ईश्वर क्षेत्रज्ञ या चेतन है, जैसा कि जीव भी है, लेकिन जीव केवल अपने शरीर के प्रति सचेत रहता है, जबकि भगवान् समस्त शरीरों के प्रति सचेत रहते हैं। चूँकि वे प्रत्येक जीव के हृदय में वास करने वाले हैं, अतएव वे जीवविशेष की मानसिक गतिशीलता से परिचित रहते हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए। यह भी बताया गया है कि परमात्मा प्रत्येक जीव के हृदय में ईश्वर या नियन्ता के रूप में वास कर रहे हैं और जैसा जीव चाहता है वैसा करने के लिए जीव को निर्देशित करते रहते हैं। जीव भूल जाता है कि उसे क्या करना है। पहले तो वह किसी एक विधि से कर्म करने का संकल्प करता है, लेकिन फिर वह अपने ही कर्म के पाप-पुण्य में फँस जाता है। वह एक शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर ग्रहण करता है, जिस प्रकार हम वस्त्र उतारते तथा पहनते रहते हैं। चूँकि इस प्रकार आत्मा देहान्तरण कर जाता है, अतः उसे अपने विगत (पूर्वकृत्) कर्मों का फल भोगना पड़ता है। ये कार्यकलाप तभी बदल सकते हैं जब जीव सतोगुण में स्थित हो और यह समझे कि उसे कौन से कर्म करने चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो उसके विगत (पूर्वकृत्) कर्मों के सारे फल बदल जाते हैं। फलस्वरूप कर्म शाश्वत नहीं हैं। इसीलिए हमने यह कहा है कि पाँच तत्त्वों ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल तथा कर्म में से चार शाश्वत हैं, कर्म शाश्वत नहीं है।

परम चेतन ईश्वर जीव से इस मामले में समान है—भगवान् तथा जीव दोनों की चेतनाएँ दिव्य हैं। यह चेतना पदार्थ के संयोग से उत्पन्न नहीं होती है। ऐसा सोचना भ्रान्तिमूलक है। भगवद्गीता इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करती कि चेतना भौतिक संयोग की किन्हीं परिस्थितियों में उत्पन्न होती है। यह चेतना भौतिक परिस्थितियों के आवरण के कारण विकृत रूप से प्रतिबिम्बित हो सकती है, जिस प्रकार रंगीन काँच से परावर्तित प्रकाश उसी रंग का प्रतीत होता है। किन्तु भगवान् की चेतना भौतिकता से प्रभावित नहीं होती है। भगवान् कहते हैं—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः*। जब वे इस भौतिक विश्व में अवतरित होते हैं तो उनकी चेतना पर भौतिक प्रभाव नहीं पड़ता। यदि वे



इस तरह प्रभावित होते तो दिव्य विषयों के सम्बन्ध में उस तरह बोलने के अधिकारी न होते जैसा कि भगवद्गीता में बोलते हैं। भौतिक कल्मष-ग्रस्त चेतना से मुक्त हुए बिना कोई दिव्य-जगत के विषय में कुछ नहीं कह सकता। अतः भगवान् भौतिक दृष्टि से कलुषित (दूषित) नहीं हैं। भगवद्गीता तो शिक्षा देती है कि हमें इस कलुषित चेतना को शुद्ध करना है। शुद्ध चेतना होने पर हमारे सारे कर्म ईश्वर की इच्छानुसार होंगे और इससे हम सुखी हो सकेंगे। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हमें अपने सारे कार्य बन्द कर देने चाहिए। अपितु, हमें अपने कर्मों को शुद्ध करना चाहिए और शुद्ध कर्म भक्ति कहलाते हैं। भक्ति में कर्म सामान्य कर्म प्रतीत होते हैं, किन्तु वे कलुषित नहीं होते। एक अज्ञानी व्यक्ति भक्त को सामान्य व्यक्ति की भाँति कर्म करते देखता है, किन्तु ऐसा मूर्ख यह नहीं समझता कि भक्त या भगवान् के कर्म अशुद्ध चेतना या पदार्थ से कलुषित नहीं होते। वे त्रिगुणातीत होते हैं। जो भी हो, हमें यह जान लेना चाहिए कि अभी हमारी चेतना कलुषित है।

जब हम भौतिक दृष्टि से कलुषित होते हैं, तो हम बद्ध कहलाते हैं। मिथ्या चेतना का प्राकट्य इसलिए होता है कि हम अपने-आपको प्रकृति का प्रतिफल (उत्पाद) मान बैठते हैं। यह मिथ्या अहंकार कहलाता है। जो व्यक्ति देहात्मबुद्धि में लीन रहता है वह अपनी स्थिति (स्वरूप) को नहीं समझ पाता। भगवद्गीता का प्रवचन देहात्मबुद्धि से मनुष्य को मुक्त करने के लिए ही हुआ था और भगवान् से यह सूचना प्राप्त करने के लिए ही अर्जुनने अपने-आपको इस अवस्था में उपस्थित किया था। मनुष्य को देहात्मबुद्धि से मुक्त होना है, और अध्यात्मवादी के लिए प्रारम्भिक कर्तव्य यही है। जो मुक्त होना चाहता है, जो स्वच्छन्द रहना चाहता है, उसे सर्वप्रथम यह जान लेना होगा कि वह शरीर नहीं है। मुक्ति का अर्थ है—भौतिक चेतना से स्वतन्त्रता। श्रीमद्भागवतम् में भी मुक्ति की परिभाषा दी गई है। *मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः*—मुक्ति का अर्थ है—इस भौतिक जगत की कलुषित चेतना से मुक्त होना और शुद्ध चेतना में स्थित होना। भगवद्गीता के सारे उपदेशों का मन्तव्य इसी शुद्ध चेतना को जागृत करना है। इसीलिए हम गीता के अन्त में कृष्ण को अर्जुन से यह प्रश्न करते पाते हैं कि वह विशुद्ध चेतना को प्राप्त हुआ या नहीं? शुद्ध चेतना का अर्थ है—भगवान् के आदेशानुसार कर्म करना। शुद्ध चेतना का यही सार है। भगवान् का अंश होने के कारण हममें चेतना पहले से ही रहती है, लेकिन हममें निकृष्ट गुणों द्वारा प्रभावित होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। किन्तु भगवान् परमेश्वर होने के कारण कभी प्रभावित नहीं होते। परमेश्वर तथा क्षुद्र जीवों में यही अन्तर है।

यह चेतना क्या है? यह है “मैं हूँ”। तो फिर “मैं हूँ” क्या है? कलुषित चेतना में “मैं हूँ” का अर्थ है कि मैं सर्वेसर्वा हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ। यह संसार चलायमान है, क्योंकि प्रत्येक जीव यही सोचता है कि वही इस भौतिक जगत का स्वामी तथा स्रष्टा है। भौतिक चेतना के दो मनोमय विभाग हैं। एक के अनुसार मैं ही स्रष्टा हूँ, और दूसरे के अनुसार मैं ही भोक्ता हूँ। लेकिन वास्तव में परमेश्वर स्रष्टा तथा भोक्ता दोनों है, और परमेश्वर का अंश होने के कारण जीव न तो स्रष्टा है न ही भोक्ता। वह मात्र



सहयोगी है। वह सृजित तथा भुक्त है। उदाहरणार्थ, मशीन का कोई एक अंग सम्पूर्ण मशीन के साथ सहयोग करता है, इसी प्रकार शरीर का कोई एक अंग पूरे शरीर के साथ सहयोग करता है। हाथ, पाँव, आँखें आदि शरीर के अंग हैं, लेकिन ये वास्तविक भोक्ता नहीं हैं। भोक्ता तो उदर है। पाँव चलते हैं, हाथ भोजन देते हैं, दाँत चबाते हैं और शरीर के सारे अंग उदर को तुष्ट करने में लगे रहते हैं, क्योंकि उदर ही प्रधान कारक है, जो शरीर रूपी संगठन का पोषण करता है। अतएव सारी वस्तुएँ उदर को दी जाती हैं। जड़ को सींच कर वृक्ष का पोषण किया जाता है, और उदर का भरण करके शरीर का पोषण किया जाता है, क्योंकि यदि शरीर को स्वस्थ रखना है तो शरीर के सारे अंगों को उदरपूर्ति में सहयोग देना होगा। इसी प्रकार परमेश्वर ही भोक्ता तथा स्रष्टा हैं और उनके अधीनस्थ हम उन्हें प्रसन्न रखने के निमित्त सहयोग करने के लिए हैं। इस सहयोग से हमें लाभ पहुँचता है, ठीक वैसे ही जैसे उदर द्वारा गृहीत भोजन से शरीर के सारे अंगों को लाभ पहुँचता है। यदि हाथ की अँगुलियाँ यह सोचें कि वे उदर को भोजन न देकर स्वयं ग्रहण कर लें, तो उन्हें निराश होना पड़ेगा। सृजन तथा भोग के केन्द्रबिन्दु परमेश्वर हैं, और सारे जीव उनके सहयोगी हैं। सहयोग के कारण ही वे भोग करते हैं। यह सम्बन्ध स्वामी तथा दास जैसा है। यदि स्वामी तुष्ट रहता है, तो दास भी तुष्ट रहता है। इसी प्रकार परमेश्वर को तुष्ट रखना चाहिए, यद्यपि जीवों में भी स्रष्टा बनने तथा भौतिक जगत का भोग करने की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि इस दृश्य-जगत के स्रष्टा परमेश्वर में ये प्रवृत्तियाँ हैं।

अतएव भगवद्गीता में हम पाएँगे कि भगवान् ही पूर्ण हैं जिनमें परम नियन्ता, नियन्त्रित जीव, दृश्य-जगत, शाश्वत-काल तथा कर्म सन्निहित हैं, और इन सबकी व्याख्या इसके मूल पाठ में की गई है। ये सब मिलकर परम पूर्ण का निर्माण करते हैं और यही परम पूर्ण परम ब्रह्म या परम सत्य कहलाता है। यही परम पूर्ण तथा परम सत्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हैं। सारी अभिव्यक्तियाँ उनकी विभिन्न शक्तियों के फलस्वरूप हैं। वे ही पूर्ण हैं।

भगवद्गीता में यह भी बताया गया है कि ब्रह्म भी पूर्ण परम पुरुष के अधीन है (ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्)। ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म की विशद व्याख्या, सूर्य की किरणों के रूप में की गई है। निर्विशेष ब्रह्म भगवान् का प्रभामय किरणसमूह है। निर्विशेष ब्रह्म पूर्ण ब्रह्म की अपूर्ण अनुभूति है और इसी तरह परमात्मा की धारणा भी है। पन्द्रहवें अध्याय में यह देखा जायेगा कि भगवान् पुरुषोत्तम निर्विशेष ब्रह्म तथा परमात्मा की आंशिक अनुभूति से बढ़कर हैं। भगवान् को सच्चिदानन्द विग्रह कहा जाता है। ब्रह्मसंहिता का शुभारम्भ इस प्रकार से होता है—ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्। “गोविन्द या कृष्ण सभी कारणों के कारण हैं। वे ही आदि कारण हैं और सत्, चित् तथा आनन्द के रूप हैं।” निर्विशेष ब्रह्म उनके सत् (शाश्वत) स्वरूप की अनुभूति है, परमात्मा सत्-चित् (शाश्वत-ज्ञान) की अनुभूति है। परन्तु भगवान् कृष्ण समस्त दिव्य स्वरूपों की अनुभूति हैं—सत्-चित्-आनन्द के पूर्ण विग्रह हैं।



अल्पज्ञानी लोग परम सत्य को निर्विशेष मानते हैं, लेकिन वे हैं—दिव्य पुरुष और इसकी सृष्टि समस्त वैदिक ग्रंथों में हुई है। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्* (कठोपनिषद् २.२.१३)। जिस प्रकार हम सभी जीव हैं और हम सबकी अपनी-अपनी व्यष्टि सत्ता है, उसी प्रकार परम सत्य भी अन्ततः व्यक्ति हैं और भगवान् की अनुभूति उनके पूर्ण स्वरूप में समस्त दिव्य लक्षणों की ही अनुभूति है। यह पूर्णता रूपविहीन (निराकार) नहीं है। यदि वह निराकार है, या किसी अन्य वस्तु से घट कर है, तो वह पूर्ण नहीं हो सकता। जो पूर्ण है, उसे हमारे लिए अनुभवगम्य तथा अनुभवातीत हर वस्तुओं से युक्त होना चाहिए, अन्यथा वह पूर्ण कैसे हो सकता है?

पूर्ण भगवान् में अपार शक्तियाँ हैं (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। कृष्ण किस प्रकार अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा कार्यशील हैं, इसकी भी व्याख्या भगवद्गीता में हुई है। यह दृश्य-जगत, या जिस जगत में हम रह रहे हैं, यह भी स्वयं में पूर्ण है, क्योंकि जिन चौबीस तत्त्वों से यह नश्वर ब्रह्माण्ड निर्मित है, वे सांख्य दर्शन के अनुसार इस ब्रह्माण्ड के पालन तथा धारण के लिए अपेक्षित संसाधनों से पूर्णतया समन्वित हैं। इसमें न तो कोई विजातीय तत्त्व है, न ही किसी भी वस्तु की आवश्यकता है। इस सृष्टि का अपना निजी नियत-काल है, जिसका निर्धारण परमेश्वर की शक्ति द्वारा हुआ है, और जब यह काल पूर्ण हो जाता है, तो उस पूर्ण व्यवस्था से इस क्षणभंगुर सृष्टि का विनाश हो जाता है। क्षुद्र जीवों के लिए यह सुविधा प्राप्त है कि पूर्ण की अनुभूति करें। सभी प्रकार की अपूर्णताओं का अनुभव पूर्ण विषयक ज्ञान की अपूर्णता के कारण है। इस प्रकार भगवद्गीता में वैदिक विद्या का पूर्ण ज्ञान पाया जाता है।

सारा वैदिक ज्ञान अमोघ (अच्युत) है, और सारे हिन्दू इस ज्ञान को पूर्ण तथा अमोघ मानते हैं। उदाहरणार्थ, गोबर पशुमल है और स्मृति या वैदिक आदेश के अनुसार यदि कोई पशुमल का स्पर्श करता है, तो उसे शुद्ध होने के लिए स्नान करना पड़ता है। लेकिन वैदिक शास्त्रों में गोबर को पवित्र करनेवाला माना गया है। इसे विरोधाभास कहा जा सकता है, लेकिन यह मान्य है क्योंकि यह वैदिक आदेश है और इसमें सन्देह नहीं कि इसे स्वीकार करने पर किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होगी। अब तो आधुनिक विज्ञान द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि गाय के गोबर में समस्त जीवाणुनाशक गुण पाये जाते हैं। अतएव वैदिक ज्ञान पूर्ण है, क्योंकि यह समस्त संशयों एवं त्रुटियों से परे है, और भगवद्गीता समस्त वैदिक ज्ञान का सार है।

वैदिक ज्ञान शोध का विषय नहीं है। हमारा शोधकार्य अपूर्ण है, क्योंकि हम अपूर्ण इन्द्रियों के द्वारा शोध करते हैं। हमें पहले से चले आ रहे पूर्ण ज्ञान को परम्परा द्वारा स्वीकार करना होता है, जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है। हमें ज्ञान को उपयुक्त स्रोत से, परम्परा से, ग्रहण करना होता है जो परम गुरु साक्षात् भगवान् से प्रारम्भ होती है, और शिष्यों-गुरुओं की यह परम्परा आगे बढ़ती जाती है। छात्र के रूप में अर्जुन भगवान् कृष्ण से शिक्षा ग्रहण करता है, और उनका विरोध किये बिना वह कृष्ण की सारी बातें स्वीकार कर लेता है। किसी को भगवद्गीता के एक अंश को स्वीकार करने और दूसरे अंश को अस्वीकार करने की अनुमति नहीं दी जाती। हमें



भगवद्गीता को बिना किसी प्रकार की टीका टिप्पणी, बिना घटाए-बढ़ाए तथा विषय-वस्तु में बिना किसी मनोकल्पना के स्वीकार करना चाहिए। गीता को वैदिक ज्ञान की सर्वाधिक पूर्ण प्रस्तुति समझना चाहिए। वैदिक ज्ञान दिव्य स्रोतों से प्राप्त होता है, और स्वयं भगवान् ने पहला प्रवचन किया था। भगवान् द्वारा कहे गये शब्द अपौरुषेय कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि वे चार दोषों से युक्त संसारी व्यक्ति द्वारा कहे गये (पौरुषेय) शब्दों से भिन्न होते हैं। संसारी पुरुष के दोष हैं—(१) वह त्रुटियाँ अवश्य करता है, (२) वह अनिवार्य रूप से भ्रमित होता है, (३) उसमें अन्यो को धोखा देने की प्रवृत्ति होती है, तथा (४) वह अपूर्ण इन्द्रियों के कारण सीमित होता है। इन चार दोषों के कारण मनुष्य सर्वव्यापी ज्ञान विषयक पूर्ण सूचना नहीं दे पाता।

ऐसे दोषपूर्ण व्यक्तियों द्वारा वैदिक ज्ञान प्रदान नहीं किया जाता। इसे पहले-पहल प्रथम सृष्ट जीव, ब्रह्मा के हृदय में प्रदान किया गया, फिर ब्रह्मा ने इस ज्ञान को अपने पुत्रों तथा शिष्यों को उसी रूप में प्रदान किया जिस रूप में उन्हें भगवान् से प्राप्त हुआ था। भगवान् पूर्ण हैं और उनका प्रकृति के नियमों के वशीभूत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव मनुष्य में इतना समझने की बुद्धि तो होनी ही चाहिए कि भगवान् ही इस ब्रह्माण्ड की सारी वस्तुओं के एकमात्र स्वामी हैं, वे ही आदि स्रष्टा तथा ब्रह्मा के भी सृजनकर्ता हैं। ग्यारहवें अध्याय में भगवान् को प्रपितामह के रूप में सम्बोधित किया गया है, क्योंकि ब्रह्मा को पितामह कहकर सम्बोधित किया गया है, और वे तो इन पितामह के भी स्रष्टा हैं। अतएव किसी को अपने-आपको किसी भी वस्तु का स्वामी नहीं मानना चाहिए, उसे केवल उन्हीं वस्तुओं को अपना मानना चाहिए जो उसके पोषण के लिए भगवान् ने अलग कर दी हैं।

भगवान् द्वारा हमारे सदुपयोग के लिए रखी गई वस्तुओं को किस तरह काम में लाया जाय, इसके अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। इसकी भी व्याख्या भगवद्गीता में हुई है। प्रारम्भ में अर्जुन ने निश्चय किया था कि वह कुरुक्षेत्र के युद्ध में नहीं लड़ेगा। यह उसका निर्णय था। अर्जुन ने भगवान् से कहा कि वह अपने ही सम्बन्धियों को मार कर राज्य का भोग नहीं करना चाहता। यह निर्णय शरीर पर आधारित था, क्योंकि वह अपने-आपको शरीर मान रहा था और अपने भाइयों, भतीजों, सालों, पितामहों आदि को अपने शारीरिक सम्बन्ध या विस्तार के रूप में ले रहा था। अतएव वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को तुष्ट करना चाह रहा था। भगवान् ने भगवद्गीता का प्रवचन इस दृष्टिकोण को बदलने के लिए ही किया, और अन्त में अर्जुन भगवान् के आदेशानुसार युद्ध करने का निश्चय करते हुए कहता है—करिष्ये वचनं तव—“मैं आपके वचन के अनुसार ही कार्य करूँगा।”

इस संसार में मनुष्य बिल्लियों तथा कुत्तों के समान लड़ने के लिए नहीं है। मनुष्यों को मनुष्य-जीवन की महत्ता समझकर सामान्य पशुओं की भाँति आचरण करना बन्द कर देना चाहिए। मनुष्य को अपने जीवन के उद्देश्य को समझना चाहिए, और इसका निर्देश वैदिक ग्रंथों में दिया गया है, जिसका सार भगवद्गीता में मिलता है। वैदिक ग्रंथ मनुष्यों के लिए हैं, पशुओं के लिए नहीं। एक पशु दूसरे पशु का वध करे तो



कोई पाप नहीं लगता, लेकिन यदि मनुष्य अपनी अनियन्त्रित स्वादेन्द्रिय की तुष्टि के लिए पशु वध करता है, तो वह प्रकृति के नियम को तोड़ने के लिए उत्तरदायी है। भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से प्रकृति के गुणों के अनुसार तीन प्रकार के कर्मों का उल्लेख है—सात्त्विक कर्म, राजसिक कर्म तथा तामसिक कर्म। इसी प्रकार आहार के भी तीन भेद हैं—सात्त्विक आहार, राजसिक आहार तथा तामसिक आहार। इन सबका विशद वर्णन हुआ है, और यदि हम भगवद्गीता के उपदेशों का ठीक से उपयोग करें तो हमारा सम्पूर्ण जीवन शुद्ध हो जाए, और अन्ततः हम अपने गन्तव्य को प्राप्त हो सकते हैं, जो इस भौतिक आकाश से परे है (यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम)।

यह गन्तव्य सनातन आकाश, या नित्य चिन्मय आकाश कहलाता है। इस संसार में हम पाते हैं कि प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। यह उत्पन्न होता है, कुछ काल तक रहता है, कुछ गौण वस्तुएँ उत्पन्न करता है, क्षीण होता है और अन्त में लुप्त हो जाता है। भौतिक संसार का यही नियम है, चाहे हम इस शरीर का दृष्टान्त लें, या फल का या किसी अन्य वस्तु का। किन्तु इस क्षणिक संसार से परे एक अन्य संसार है, जिसके विषय में हमें जानकारी है। उस संसार में अन्य प्रकृति है, जो सनातन है। जीव भी सनातन है और ग्यारहवें अध्याय में भगवान् को भी सनातन बताया गया है। हमारा भगवान् के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, और चूँकि हम सभी गुणात्मक रूप से एक हैं—सनातन-धाम, सनातन-ब्रह्म तथा सनातन-जीव—अतएव गीता का सारा अभिप्राय हमारे सनातन-धर्म को जागृत करना है, जो कि जीव की शाश्वत वृत्ति है। हम अस्थायी रूप से विभिन्न कर्मों में लगे रहते हैं, किन्तु यदि हम इन क्षणिक कर्मों को त्याग कर परमेश्वर द्वारा प्रस्तावित कर्मों को ग्रहण कर लें, तो हमारे ये सारे कर्म शुद्ध हो जाएँ। यही शुद्ध जीवन कहलाता है।

परमेश्वर तथा उनका दिव्य धाम, ये दोनों ही सनातन हैं और जीव भी सनातन हैं। सनातन-धाम में परमेश्वर तथा जीव की संयुक्त संगति ही मानव जीवन की सार्थकता है। भगवान् जीवों पर अत्यन्त दयालु रहते हैं, क्योंकि वे उनके आत्मज हैं। भगवान् कृष्ण ने भगवद्गीता में घोषित किया है सर्वयोनिषु... अहं बीजप्रदः पिता—“मैं सबका पिता हूँ।” निस्सन्देह अपने-अपने कर्मों के अनुसार नाना प्रकार के जीव हैं, लेकिन यहाँ पर कृष्ण कहते हैं कि वे उन सबके पिता हैं। अतएव भगवान् उन समस्त पतित बद्धजीवों का उद्धार करने तथा उन्हें सनातन-धाम वापस बुलाने के लिए अवतरित होते हैं, जिससे सनातन-जीव भगवान् की नित्य संगति में रहकर अपनी सनातन स्थिति को पुनः प्राप्त कर सकें। भगवान् स्वयं नाना अवतारों के रूप में अवतरित होते हैं या फिर अपने विश्वस्त सेवकों को अपने पुत्रों, पार्षदों या आचार्यों के रूप में इन बद्धजीवों का उद्धार करने के लिए भेजते हैं।

अतएव सनातन-धर्म किसी साम्प्रदायिक धर्म पद्धति का सूचक नहीं है। यह तो नित्य परमेश्वर के साथ नित्य जीवों के नित्य कर्म-धर्म का सूचक है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह जीव के नित्य धर्म (वृत्ति) को बताता है। श्रीपाद रामानुजाचार्य ने सनातन शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है, “वह, जिसका न आदि है और न



अन्त” अतएव जब हम सनातन-धर्म के विषय में बातें करते हैं तो हमें श्रीपाद रामानुजाचार्य के प्रमाण के आधार पर यह मान लेना चाहिए कि इसका न आदि है न अन्त ।

अंग्रेजी का ‘रिलीजन’ शब्द सनातन-धर्म से थोड़ा भिन्न है । ‘रिलीजन’ से विश्वास का भाव सूचित होता है, और विश्वास परिवर्तित हो सकता है । किसी को एक विशेष विधि में विश्वास हो सकता है और वह इस विश्वास को बदल कर दूसरा ग्रहण कर सकता है, लेकिन सनातन-धर्म उस कर्म का सूचक है जो बदला नहीं जा सकता । उदाहरणार्थ, न तो जल से उसकी तरलता विलग की जा सकती है, न अग्नि से ऊष्मा विलग की जा सकती है । इसी प्रकार जीव से उसके नित्य कर्म को विलग नहीं किया जा सकता । सनातन-धर्म जीव का शाश्वत अंग है । अतएव जब हम सनातन-धर्म के विषय में बात करते हैं तो हमें श्रीपाद रामानुजाचार्य के प्रमाण को मानना चाहिए कि उसका न तो आदि है न अन्त । जिसका आदि-अन्त न हो वह साम्प्रदायिक नहीं हो सकता क्योंकि उसे किसी सीमा में नहीं बाँधा जा सकता । जिनका सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय से होगा वे सनातन-धर्म को भी साम्प्रदायिक मानने की भूल करेंगे, किन्तु यदि हम इस विषय पर गम्भीरता से विचार करें और आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में सोचें तो हम सहज ही देख सकते हैं कि सनातन-धर्म विश्व के समस्त लोगों का ही नहीं अपितु ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों का है ।

भले ही असनातन धार्मिक विश्वास का मानव इतिहास के पृष्ठों में कोई आदि हो, लेकिन सनातन-धर्म के इतिहास का कोई आदि नहीं होता, क्योंकि यह जीवों के साथ शाश्वत चलता रहता है । जहाँ तक जीवों का सम्बन्ध है, प्रामाणिक शास्त्रों का कथन है कि जीव का न तो जन्म होता है, न मृत्यु । गीता में कहा गया है कि जीव न तो कभी जन्मता है, न कभी मरता है । वह शाश्वत तथा अविनाशी है, और इस क्षणभंगुर शरीर के नष्ट होने के बाद भी रहता है । सनातन-धर्म के स्वरूप के प्रसंग में हमें धर्म की धारणा को संस्कृत की मूल धातु से समझना होगा । धर्म का अर्थ है जो पदार्थ विशेष में सदैव रहता है । हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अग्नि के साथ ऊष्मा तथा प्रकाश सदैव रहते हैं, ऊष्मा व प्रकाश के बिना अग्नि शब्द का कोई अर्थ नहीं होता । इसी प्रकार हमें जीव के उस अनिवार्य अंग को ढूँढना चाहिए जो उसका चिर सहचर है । यह चिर सहचर उसका शाश्वत गुण है और यह शाश्वत गुण ही उसका नित्य धर्म है ।

जब सनातन गोस्वामी ने श्री चैतन्यमहाप्रभु से प्रत्येक जीव के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा की तो भगवान् ने उत्तर दिया कि जीव का स्वरूप या स्वाभाविक स्थिति भगवान् की सेवा करना है । यदि हम महाप्रभु के इस कथन का विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि एक जीव दूसरे जीव की सेवा में निरन्तर लगा हुआ है । एक जीव दूसरे जीव की सेवा कई रूपों में करता है । ऐसा करके, जीव जीवन का भोग करता है । निम्न पशु मनुष्यों की सेवा करते हैं जैसे सेवक अपने स्वामी की सेवा करते हैं । एक व्यक्ति ‘अ’ अपने स्वामी ‘ब’ की सेवा करता है और ‘ब’ अपने स्वामी ‘स’ की तथा ‘स’ अपने स्वामी ‘द’ की । इस प्रकार हम देखते हैं कि एक मित्र दूसरे मित्र की



सेवा करता है, माता पुत्र की सेवा करती है, पत्नी पति की सेवा करती है, पति पत्नी की सेवा करता है। यदि हम इसी भावना से खोज करते चलें तो पाएँगे कि समाज में ऐसा एक भी अपवाद नहीं है जिसमें कोई जीव सेवा में न लगा हो। एक राजनेता जनता के समक्ष अपनी सेवा करने की क्षमता का घोषणा-पत्र प्रस्तुत करता है। फलतः मतदाता उसे यह सोचते हुए मत देते हैं कि वह समाज की महत्त्वपूर्ण सेवा करेगा। दुकानदार अपने ग्राहक की सेवा करता है और कारीगर (शिल्पी) पूँजीपतियों की सेवा करते हैं। पूँजीपति अपने परिवार की सेवा करता है और परिवार शाश्वत जीव की शाश्वत सेवा क्षमता से राज्य की सेवा करता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कोई भी जीव अन्य जीव की सेवा करने से मुक्त नहीं है। अतएव हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सेवा जीव की चिर सहचरी है और सेवा करना जीव का शाश्वत (सनातन) धर्म है।

तथापि मनुष्य काल तथा परिस्थिति विशेष के प्रसंग में एक विशिष्ट प्रकार के विश्वास को अंगीकार करता है, और इस प्रकार वह अपने को हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध या किसी अन्य सम्प्रदाय का मानने वाला बताता है। ये सभी उपाधियाँ सनातन-धर्म नहीं हैं। एक हिन्दू अपना विश्वास बदल कर मुसलमान बन सकता है, या एक मुसलमान अपना विश्वास बदल कर हिन्दू बन सकता है या कोई ईसाई अपना विश्वास बदल सकता है, इत्यादि। किन्तु इन सभी परिस्थितियों में धार्मिक विश्वास में परिवर्तन होने से अन्यो की सेवा करने का शाश्वत-धर्म (वृत्ति) प्रभावित नहीं होता। हिन्दू, मुसलमान या ईसाई समस्त परिस्थितियों में किसी न किसी के सेवक हैं। अतएव किसी विशेष विश्वास को अंगीकार करना अपने सनातन-धर्म को अंगीकार करना नहीं है। सेवा करना ही सनातन-धर्म है।

वस्तुतः भगवान् के साथ हमारा सम्बन्ध सेवा का सम्बन्ध है। परमेश्वर परम भोक्ता हैं और हम सारे जीव उनके सेवक हैं। हम सब उनके भोग (सुख) के लिए बने हैं और यदि हम भगवान् के साथ उस नित्य भोग में भाग लेते हैं, तो हम सुखी बनते हैं। हम किसी अन्य प्रकार से सुखी नहीं हो सकते। स्वतन्त्र रूप से सुखी बन पाना सम्भव नहीं, जिस प्रकार शरीर का कोई भी भाग उदर से सहयोग किये बिना सुखी नहीं रह सकता। परमेश्वर की दिव्य प्रेमाभक्तिमय सेवा किये बिना जीव सुखी नहीं हो सकता।

भगवद्गीता में विभिन्न देवों की पूजा या सेवा करने का अनुमोदन नहीं किया गया है। उसमें (७.२०) कहा गया है :

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

“जिनकी बुद्धि भौतिक इच्छाओं द्वारा मारी गई है वे देवताओं की शरण में जाते हैं, और वे अपने-अपने स्वभावों के अनुसार पूजा के विशेष विधिविधानों का पालन करते हैं।” यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि जो काम-वासना द्वारा निर्देशित होते हैं वे भगवान् कृष्ण की पूजा न करके देवताओं की पूजा करते हैं। जब हम कृष्ण का नाम लेते हैं





कृष्णकृपामूर्ति

**श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद**

अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के संस्थापक आचार्य एवं  
सम्पूर्ण विश्व में वैदिक ज्ञान के अद्वितीय प्रचारक





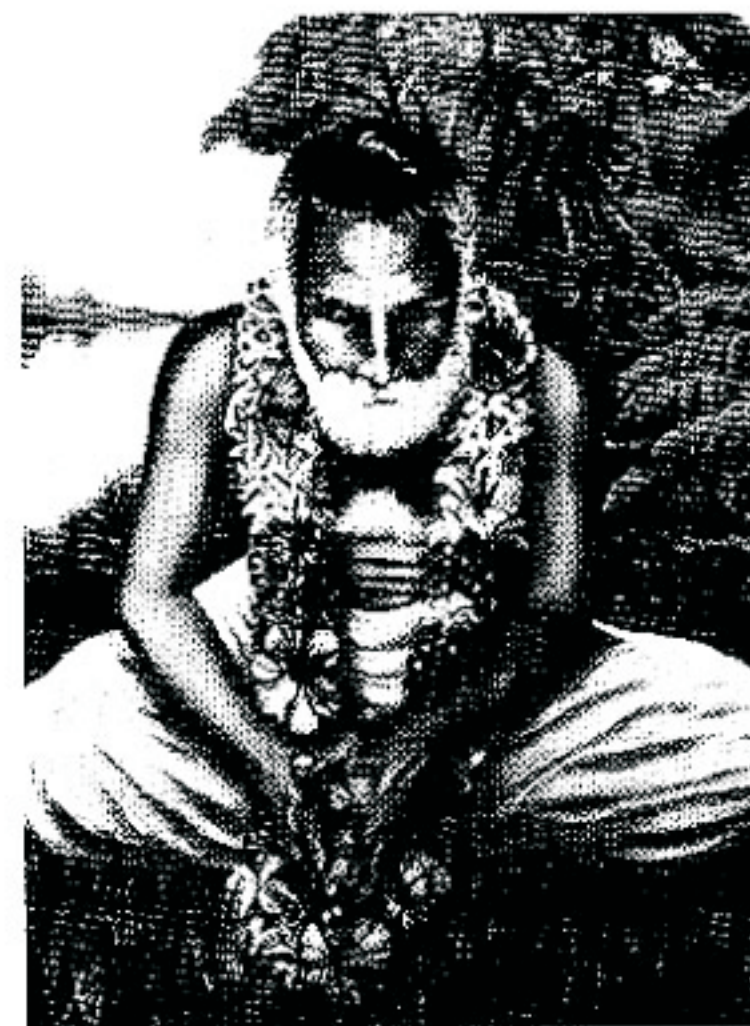
श्रील जगन्नाथ दास बाबाजी महाराज  
श्रील भक्तिविनोद ठाकुर के आध्यात्मिक गुरु



श्रील भक्तिविनोद ठाकुर  
कृष्णभावनामृत से सम्पूर्ण जगत को लाभान्वित  
कराने वाले कार्यक्रम के प्रणेता

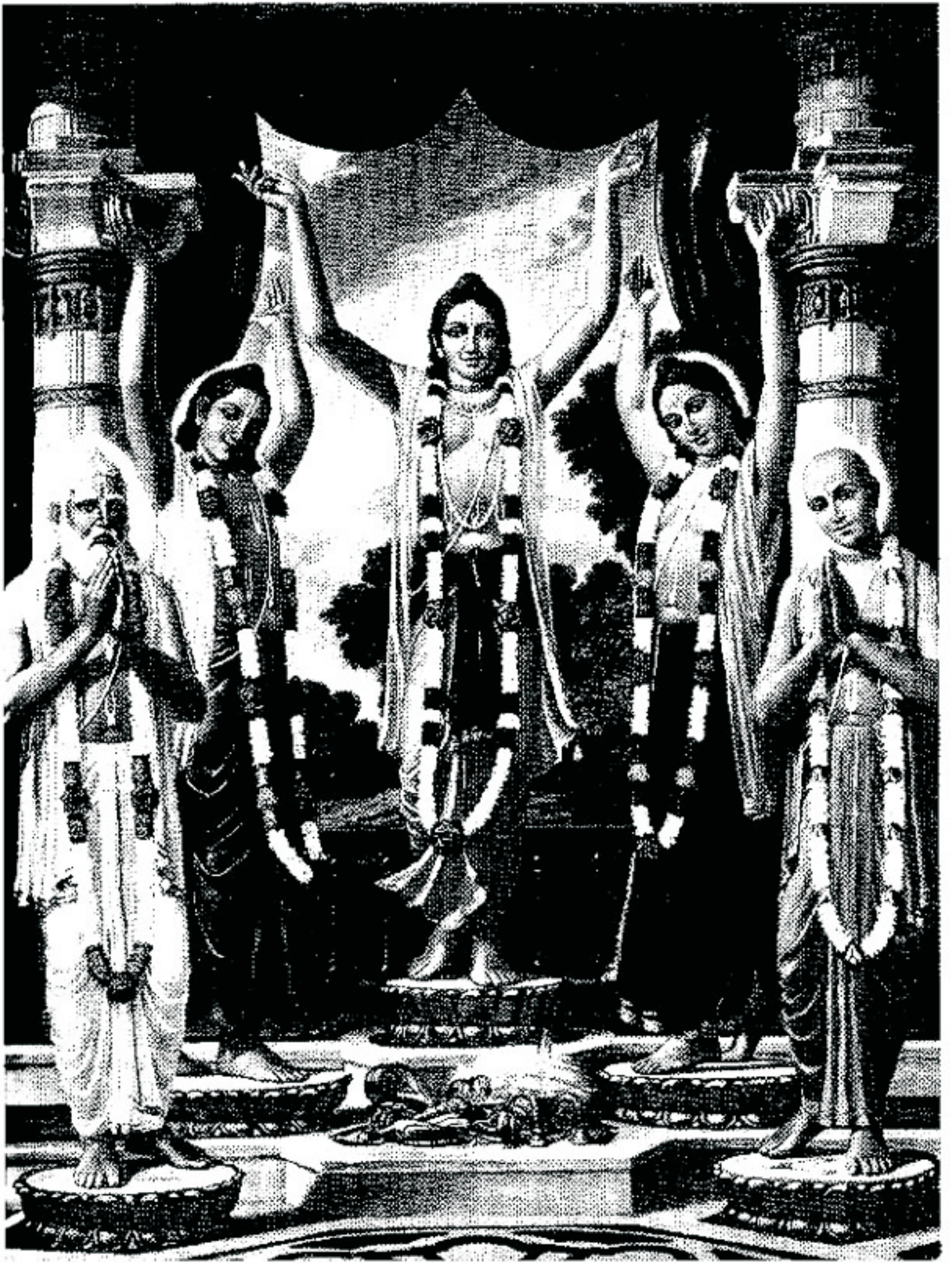


श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी  
महाराज  
श्रील ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद  
के आध्यात्मिक गुरु



श्रील गौरकिशोर दास बाबाजी महाराज  
श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज के  
आध्यात्मिक गुरु और श्रील भक्तिविनोद ठाकुर के  
अन्तरंग शिष्य





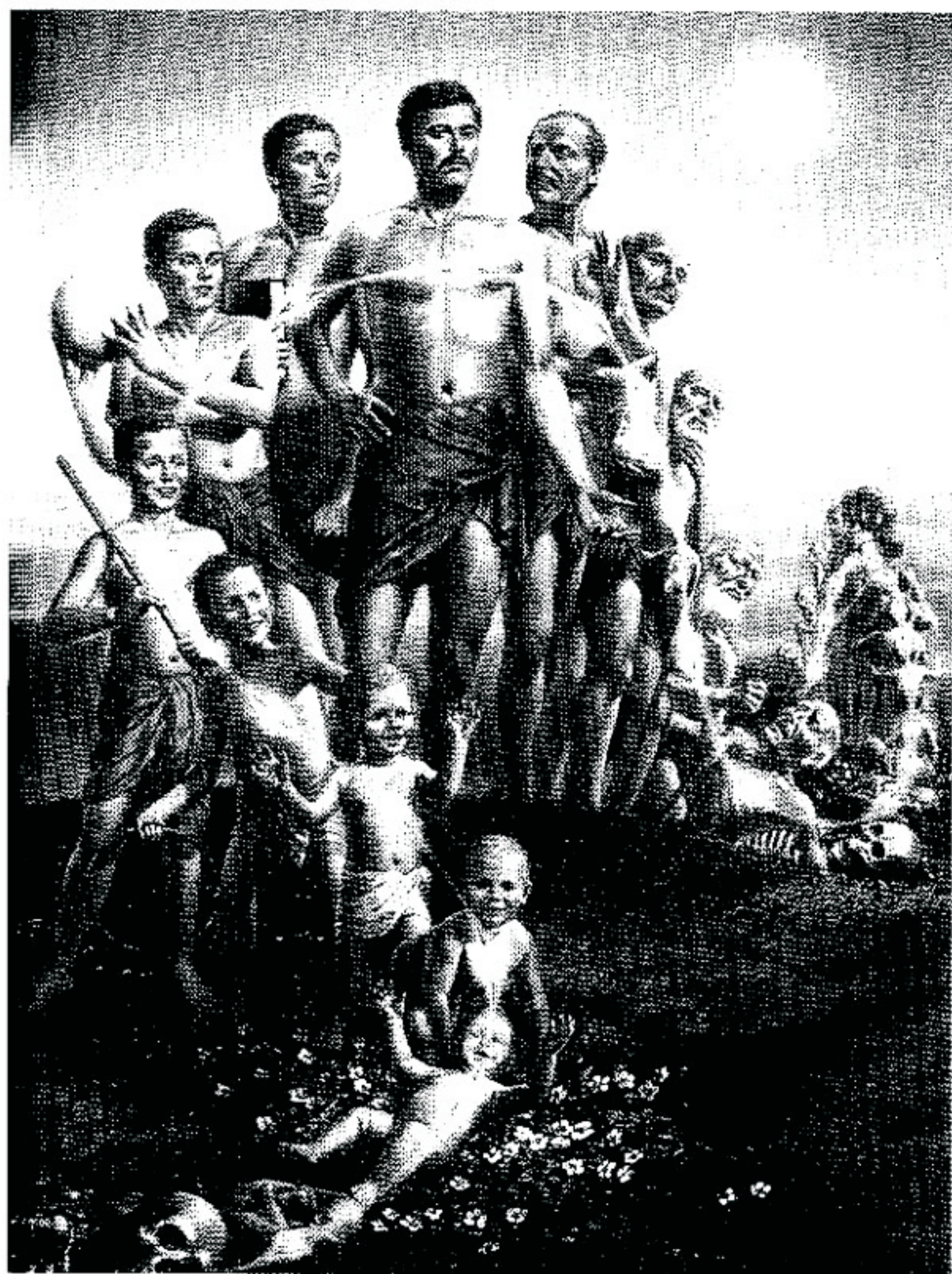
इस कलियुग में जो लोग पर्याप्त बुद्धिमान हैं, वे भगवान् की उनके पार्षदों सहित संकीर्तन-यज्ञ द्वारा पूजा करेंगे। (३.१० तात्पर्य)





धृतराष्ट्र ने कहा : हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्र हुए मेरे तथा पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ? (१.१)





जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने तथा व्यर्थ के शरीरों को त्यागकर नवीन भौतिक शरीर धारण करता है। (२.२२)





प्रत्येक व्यक्ति इस भौतिक शरीर रूपी रथ पर आरूढ है और बुद्धि इसका सारथी है। मन लगाम है तथा इन्द्रियाँ घोड़े हैं। इस प्रकार मन तथा इन्द्रियों की संगति से यह आत्मा सुख या दुःख का भोक्ता है। (६.३४ तात्पर्य)





संसार के सारे भौतिक कार्यकलाप प्रकृति के तीन गुणों के अधीन सम्पन्न होते हैं। यद्यपि प्रकृति के तीन गुण परमेश्वर कृष्ण से उद्भूत हैं, फिर भी भगवान् कृष्ण उनके अधीन नहीं होते। (७.१२ तात्पर्य)





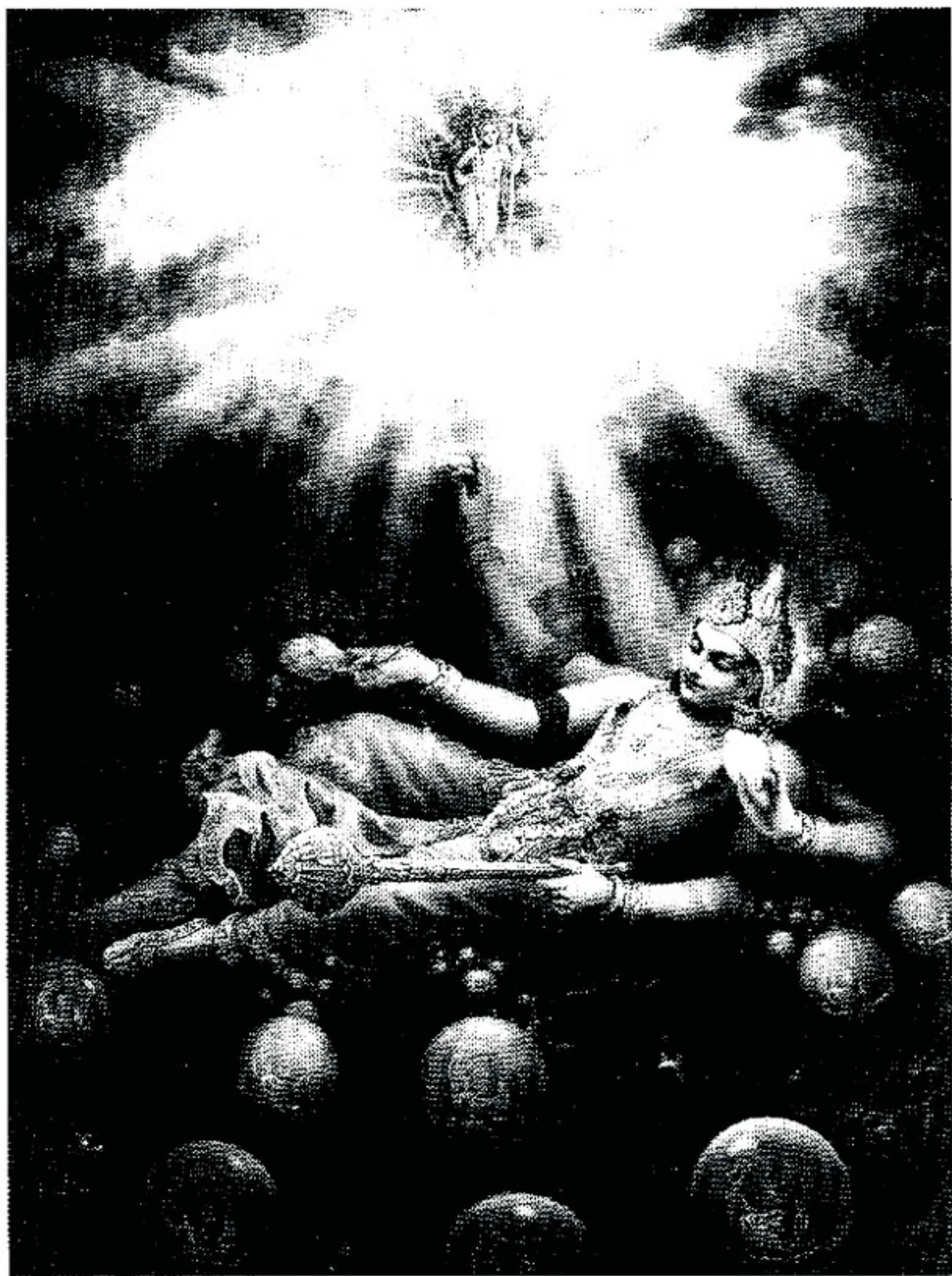
कम बुद्धि वाले व्यक्ति देवताओं से अनुग्रह पाने की आशा करते हैं और ऐसी वस्तुएँ प्राप्त करते हैं, जो अस्थायी होती हैं और मृत्यु के समय समाप्त हो जाती हैं। वास्तव में ये सारे लाभ भगवान् द्वारा ही प्रदान किये जाते हैं।  
(७.२२ तात्पर्य)





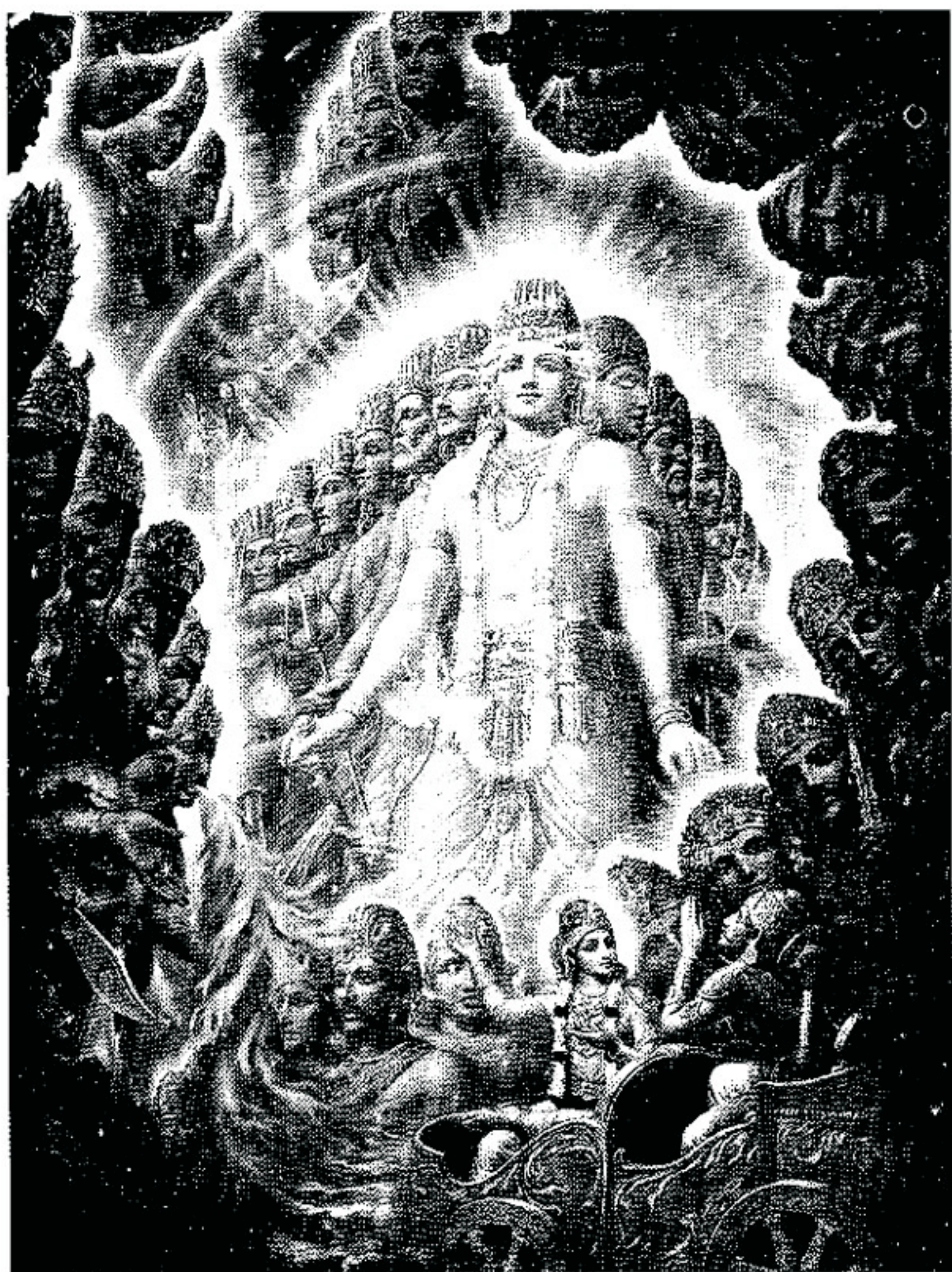
योग में सिद्ध योगी अपने शरीर को त्यागने के स्थान तथा समय की व्यवस्था कर सकते हैं। अन्य मनुष्यों का इस पर कोई वश नहीं होता। (८.२४ तात्पर्य)





मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगत्‌ों का कारण हूँ, प्रत्येक वस्तु मुझ ही से उद्भूत है। जो बुद्धिमान यह भलीभाँति जानते हैं, वे मेरी प्रेमाभक्ति में लगते हैं तथा हृदय से पूरी तरह मेरी पूजा में तत्पर होते हैं। (१०.८)





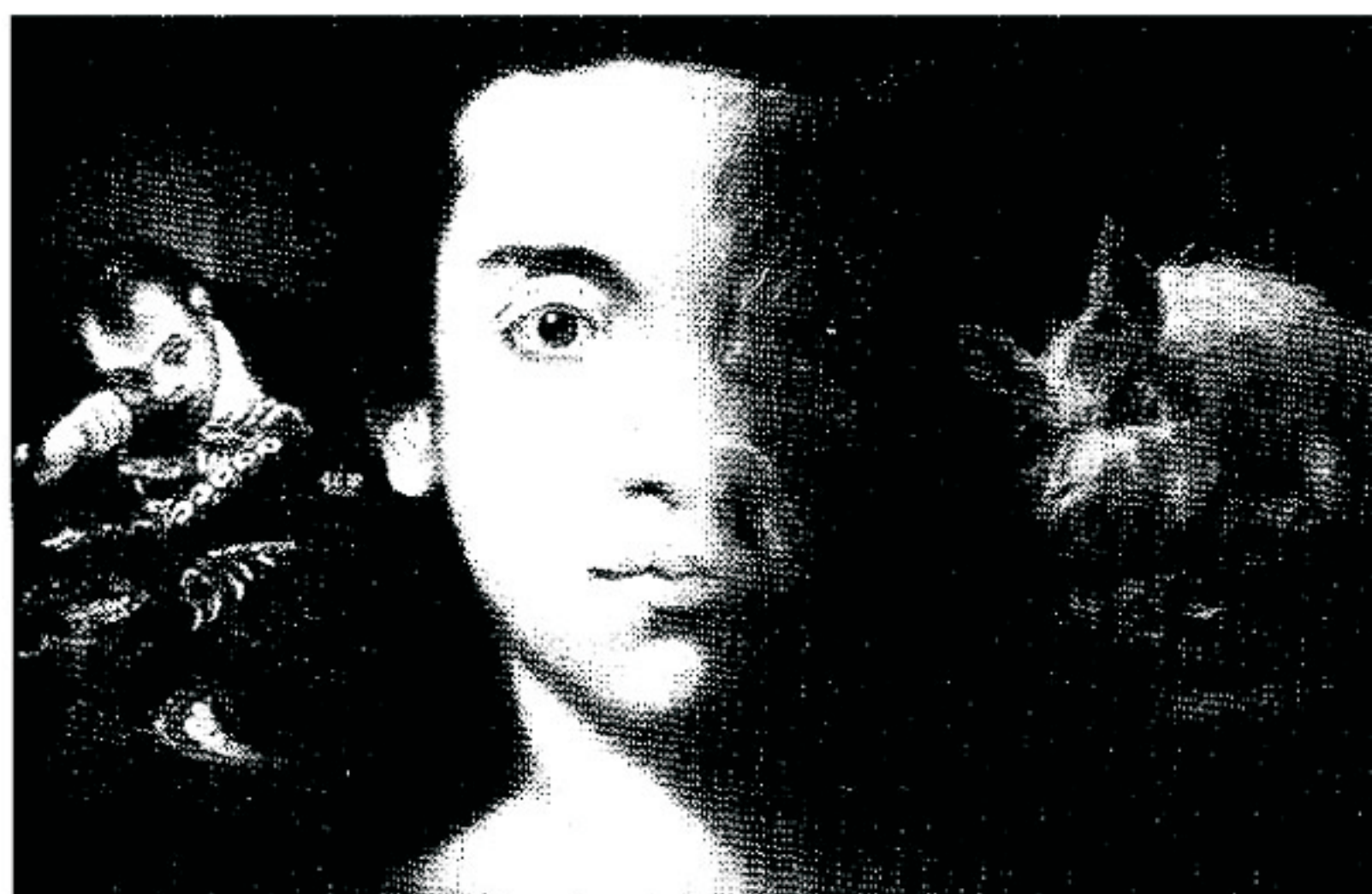
विश्वरूप दर्शन कर मोहग्रस्त एवं आश्चर्यचकित रोमांचित हुए अर्जुन ने कहाँ, “हे विश्वेश्वर, हे विश्वरूप! मैं आपके शरीर में अनेकानेक हाथ, पेट, मुख तथा आँखें देख रहा हूँ, जो सर्वत्र फैले हुए हैं और जिनका अन्त नहीं है। आप में न अन्त दिखता है, न मध्य और न आदि।” (११.१६)





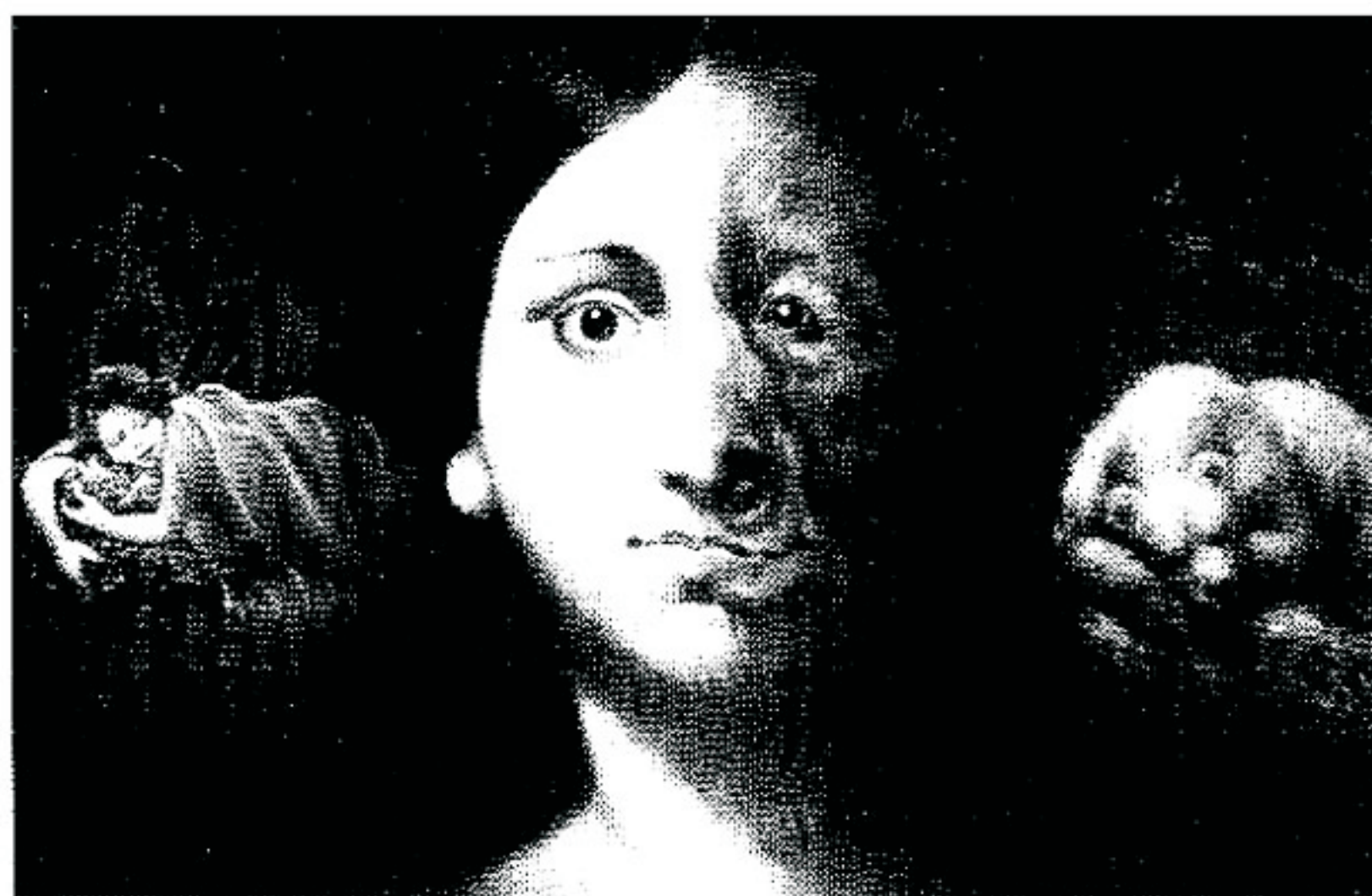
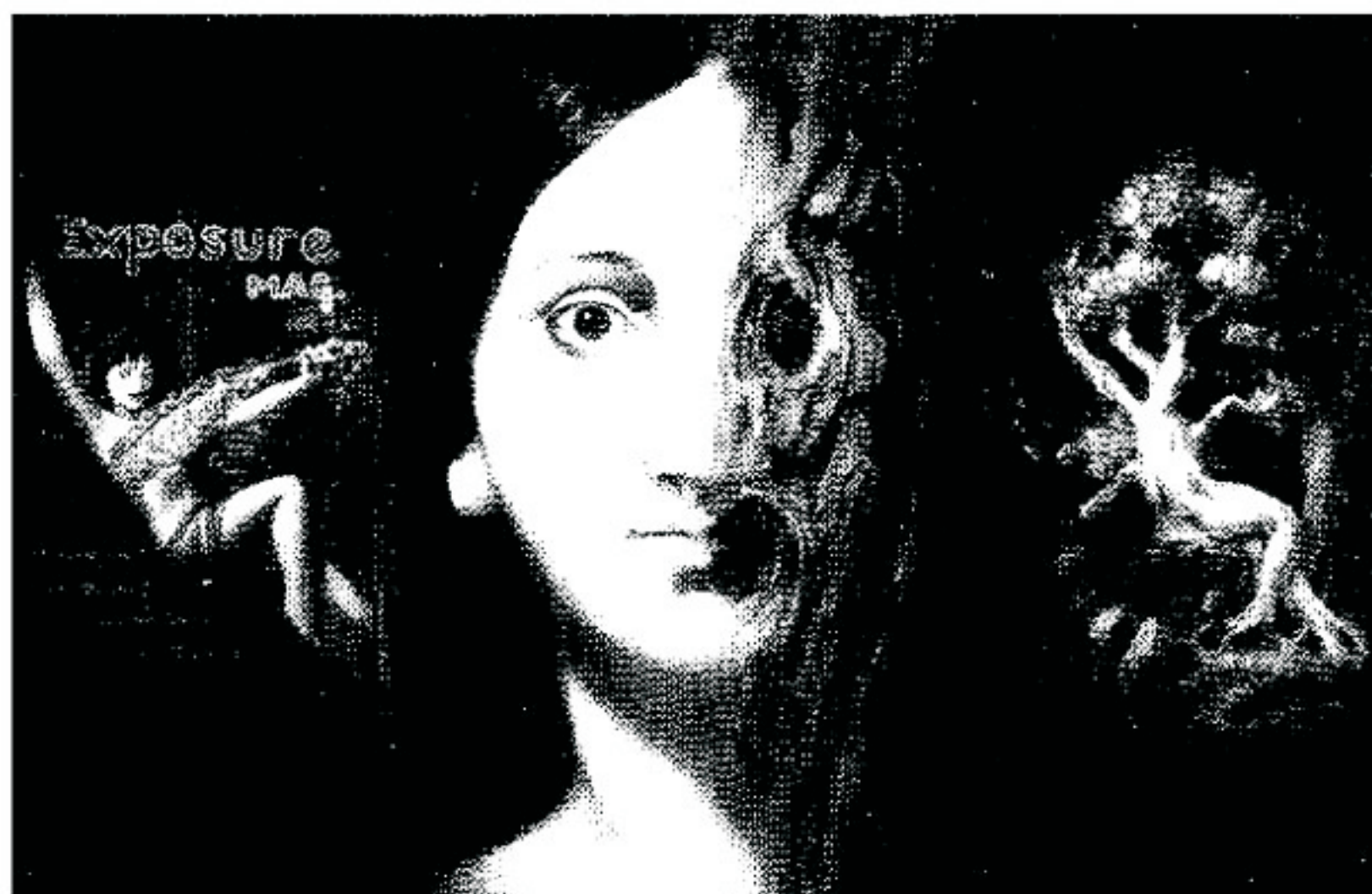
भौतिक जगत् रूपी वृक्ष आध्यात्मिक जगत् रूपी वास्तविक वृक्ष का प्रतिबिम्ब मात्र है। इस भौतिक जगत् रूपी वृक्ष में आसक्त रहने वाले मनुष्य की मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं होती। लेकिन जो मनुष्य आध्यात्मिक जगत् रूपी वृक्ष को समझ लेता है, वह आत्मोन्नति कर सकता है। (१५.१ तात्पर्य)





मृत्यु के समय जीव द्वारा विकसित की गई चेतना ऊसे दूसरे शरीर में ले जाती है। (१५.८ तात्पर्य)





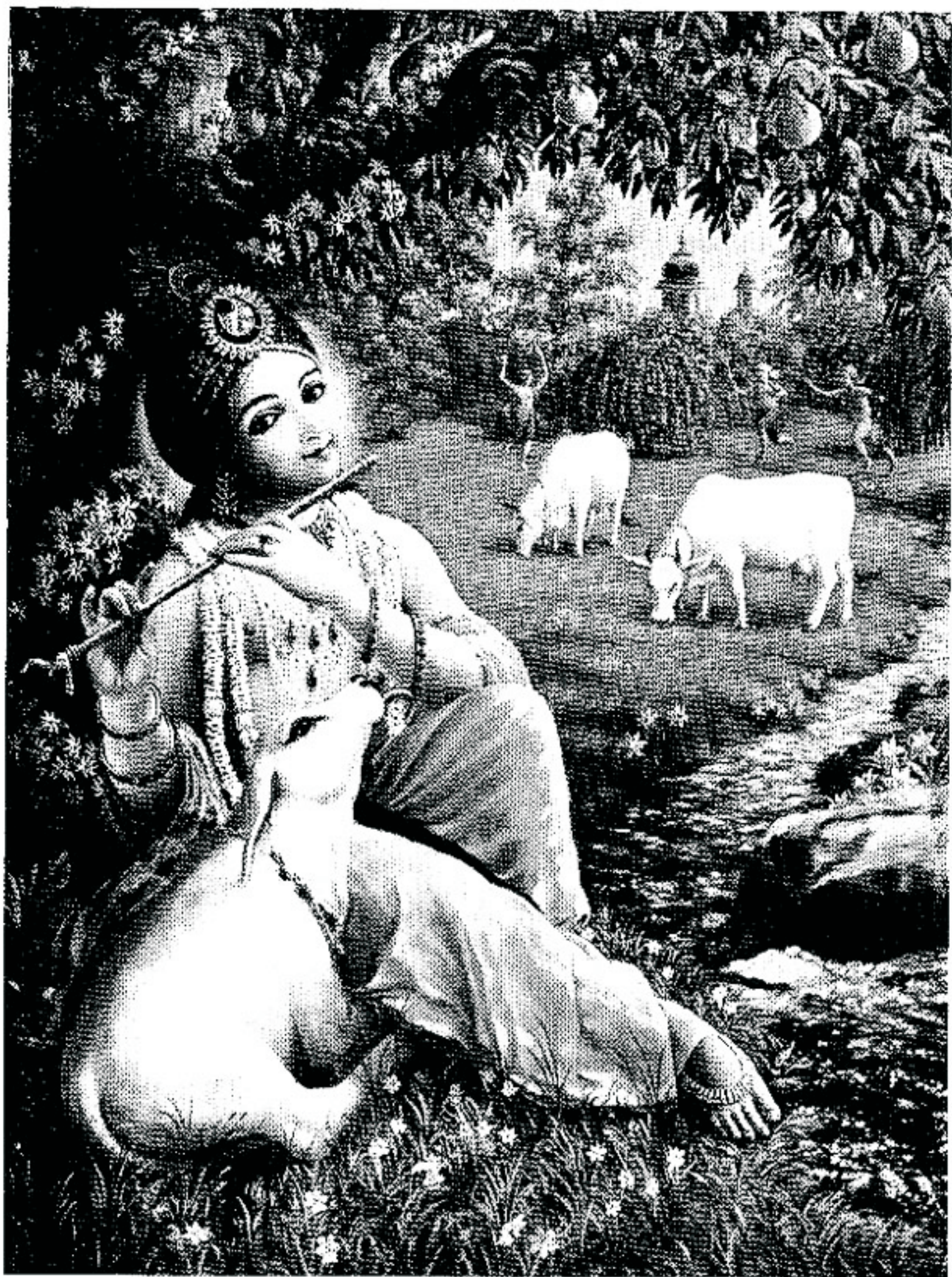
यदि जीव ने अपनी चेतना पशु जैसी बना रखी है, तो उसे पशु का शरीर प्राप्त होना निश्चित है। (१५.९ तात्पर्य)





मैं प्रत्येक जीव के हृदय में आसीन हूँ और मुझ से ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति होती है। मैं ही वेदों के द्वारा जानने योग्य हूँ। निःसन्देह मैं वेदान्त का संकलनकर्ता तथा समस्त वेदों को जानने वाला हूँ। (१५.१५)





सदैव मेरा चिन्तन करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे नमस्कार करो ।  
इस प्रकार तुम निश्चित रूप से मेरे पास आओगे । मैं तुम्हें वचन देता हूँ, क्योंकि  
तुम मेरे परम प्रिय मित्र हो । (१८.६५)



तो हम किसी साम्प्रदायिक नाम का उल्लेख नहीं करते। कृष्ण का अर्थ है—सर्वोच्च आनन्द, और इसकी पुष्टि हुई है कि परमेश्वर समस्त आनन्द के आगार हैं। हम सभी आनन्द की खोज में लगे रहते हैं। *आनन्दमयोऽध्यासात्* (वेदान्त-सूत्र १.१.१२)। भगवान् की ही भाँति जीव चेतना से पूर्ण हैं, और सुख की खोज में रहते हैं। भगवान् तो नित्य सुखी हैं, और यदि जीव उनकी संगति करते हैं, उनके साथ सहयोग करते हैं, तो वे भी सुखी बन जाते हैं।

भगवान् इस मर्त्य लोक में सुख से पूर्ण अपनी वृन्दावन लीलाएँ प्रदर्शित करने के लिए अवतरित होते हैं। अपने गोपमित्रों के साथ, अपनी गोपिका-सखियों के साथ, वृन्दावन के अन्य निवासियों के साथ तथा गायों के साथ उनकी लीलाएँ सुख से ओतप्रोत हैं। वृन्दावन की सारी जनता कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानती थी। परन्तु भगवान् कृष्ण ऐसे थे कि उन्होंने अपने पिता नन्द महाराज को भी इन्द्रदेव की पूजा करने से निरुत्साहित किया क्योंकि वे इस तथ्य को प्रतिष्ठित करना चाहते थे कि लोगों को किसी भी देवता की पूजा करने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें एकमात्र परमेश्वर की पूजा करनी चाहिए क्योंकि उनका चरम-लक्ष्य भगवद्धाम को वापस जाना है।

भगवद्गीता में (१५.६) भगवान् श्रीकृष्ण के धाम का वर्णन इस प्रकार हुआ है :

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

“मेरा परम धाम न तो सूर्य या चन्द्रमा द्वारा, न ही अग्नि या बिजली द्वारा प्रकाशित होता है। जो लोग वहाँ पहुँच जाते हैं वे इस भौतिक जगत में फिर कभी नहीं लौटते।”

यह श्लोक उस नित्य आकाश (परम धाम) का वर्णन प्रस्तुत करता है। निस्सन्देह हमें आकाश की भौतिक धारणा है, और हम इसे सूर्य, चन्द्र, तारे आदि के सम्बन्ध में सोचते हैं। किन्तु इस श्लोक में भगवान् बताते हैं कि नित्य आकाश में सूर्य, चन्द्र, अग्नि या बिजली किसी की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह परमेश्वर से निकलने वाली ब्रह्मज्योति द्वारा प्रकाशित है। हम अन्य लोकों तक पहुँचने का कठिन प्रयास कर रहे हैं, लेकिन परमेश्वर के धाम को जानना कठिन नहीं है। यह धाम गोलोक कहा जाता है। ब्रह्मसंहिता में (५.३७) इसका अतीव सुन्दर वर्णन मिलता है—गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः। भगवान् अपने धाम गोलोक में नित्य वास करते हैं फिर भी इस लोक से उन तक पहुँचा जा सकता है और ऐसा करने के लिए वे अपने सच्चिदानन्द विग्रह रूप को व्यक्त करते हैं जो उनका असली रूप है। जब वे इस रूप को प्रकट करते हैं तब हमें इसकी कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि उनका रूप कैसा है। ऐसे चिन्तन को निरुत्साहित करने के लिए ही वे अवतार लेते हैं, और अपने श्यामसुन्दर स्वरूप को प्रदर्शित करते हैं। दुर्भाग्यवश अल्पज्ञ लोग उनकी हँसी उड़ाते हैं क्योंकि वे हमारे जैसे बन कर आते हैं और मनुष्य रूप धारण करके हमारे साथ खेलते-कूदते हैं। लेकिन इस कारण हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि वे हमारी तरह हैं। वे अपनी सर्वशक्तिमत्ता के कारण ही अपने वास्तविक रूप में हमारे



समक्ष प्रकट होते हैं, और अपनी लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं, जो उनके धाम में होने वाली लीलाओं की अनुकृतियाँ (प्रतिरूप) होती हैं।

आध्यात्मिक आकाश की तेजोमय किरणों (ब्रह्मज्योति) में असंख्य लोक तैर रहे हैं। यह ब्रह्मज्योति परम धाम कृष्णलोक से उद्भूत होती है और आनन्दमय तथा चिन्मय लोक, जो भौतिक नहीं हैं, इसी ज्योति में तैरते रहते हैं। भगवान् कहते हैं—*न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः । यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।* जो इस आध्यात्मिक आकाश तक पहुँच जाता है उसे इस भौतिक आकाश में लौटने की आवश्यकता नहीं रह जाती। भौतिक आकाश में यदि हम सर्वोच्च लोक (ब्रह्मलोक) को भी प्राप्त कर लें, चन्द्रलोक का तो कहना ही क्या, तो वहाँ भी वही जीवन की परिस्थितियाँ—जन्म, मृत्यु, व्याधि तथा जरा—होंगी। भौतिक ब्रह्माण्ड का कोई भी लोक संसार के इन चार नियमों से मुक्त नहीं है।

सारे जीव एक लोक से दूसरे लोक में विचरण करते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है कि हम यान्त्रिक व्यवस्था करके जिस लोक में जाना चाहें वहाँ चले जायँ। यदि हम किसी अन्य लोक में जाना चाहते हैं तो उसकी विधि होती है। इसका भी उल्लेख हुआ है—*यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितॄव्रताः ।* यदि हम एक लोक से दूसरे लोक में विचरण करना चाहते हैं तो उसके लिए कोई यान्त्रिक व्यवस्थाकी आवश्यकता नहीं है। गीता का उपदेश है—*यान्ति देवव्रता देवान् ।* चन्द्र, सूर्य तथा उच्चतर लोक स्वर्गलोक कहलाते हैं। लोकों की तीन विभिन्न स्थितियाँ हैं—उच्चतर, मध्य तथा निम्नतर लोक। पृथ्वी मध्य लोक में आती है। भगवद्गीता बताती है कि किस प्रकार अति सरल सूत्र—*यान्ति देवव्रता देवान्*—द्वारा उच्चतर लोकों यानी देवलोकों तक जाया जा सकता है। मनुष्य को केवल उस लोक के विशेष देवता की पूजा करने की आवश्यकता है और इस तरह चन्द्रमा, सूर्य या अन्य किसी भी उच्चतर लोक को जाया जा सकता है।

फिर भी भगवद्गीता हमें इस जगत के किसी लोक में जाने की सलाह नहीं देती क्योंकि चाहे हम किसी यान्त्रिक युक्ति से चालीस हजार वर्षों (और कौन इतने समय तक जीवित रहेगा?) तक यात्रा करके सर्वोच्च लोक, ब्रह्मलोक, क्यों न चले जायँ, किन्तु फिर भी वहाँ हमें जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि जैसी भौतिक असुविधाओं से मुक्ति नहीं मिल सकेगी। लेकिन जो परम लोक, कृष्णलोक, या आध्यात्मिक आकाश के किसी भी अन्य लोक में पहुँचना चाहता है, उसे वहाँ ये असुविधाएँ नहीं होंगी। आध्यात्मिक आकाश में जितने भी लोक हैं, उनमें गोलोक वृन्दावन नामक लोक सर्वश्रेष्ठ है, जो भगवान् श्रीकृष्ण का आदि धाम है। यह सारी जानकारी भगवद्गीता में दी हुई है, और इसमें उपदेश दिया गया है कि किस प्रकार हम इस भौतिक जगत को छोड़कर आध्यात्मिक आकाश में वास्तविक आनन्दमय जीवन बिता सकते हैं।

भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में भौतिक जगत का जीता जागता चित्रण हुआ है। कहा गया है :



ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

यहाँ पर भौतिक जगत का वर्णन उस वृक्ष के रूप में हुआ है जिसकी जड़ें ऊर्ध्वमुखी हैं और शाखाएँ अधोमुखी हैं। हमें ऐसे वृक्ष का अनुभव है, जिसकी जड़ें ऊर्ध्वमुखी हों : यदि कोई नदी या जलाशय के किनारे खड़ा होकर जल में वृक्षों का प्रतिबिम्ब देखे तो उसे सारे वृक्ष उल्टे दिखेंगे। शाखाएँ नीचे की ओर और जड़ें ऊपर की ओर दिखेंगी। इसी प्रकार यह भौतिक जगत भी आध्यात्मिक जगत का प्रतिबिम्ब है। यह जगत वास्तविकता का प्रतिबिम्ब (छाया) मात्र है। प्रतिबिम्ब (छाया) में कोई वास्तविकता या सार नहीं होता, लेकिन प्रतिबिम्ब से हम यह समझ लेते हैं कि वस्तु तथा वास्तविकता हैं। इसी प्रकार यद्यपि मरुस्थल में जल नहीं होता, लेकिन मृग-मरीचिका बताती है कि जल जैसी कोई वस्तु होती है। भौतिक जगत में न तो जल है, न तो सुख है, लेकिन आध्यात्मिक जगत में वास्तविक सुख-रूपी असली जल है। भगवद्गीता में (१५.५) भगवान् ने सुझाव दिया है कि हम निम्नलिखित प्रकार से आध्यात्मिक जगत की प्राप्ति कर सकते हैं।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा

अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

पदमव्ययं अर्थात् सनातन राज्य (धाम) को वही प्राप्त होता है जो निर्मान-मोहा है। इसका अर्थ क्या हुआ? हम उपाधियों के पीछे पड़े रहते हैं। कोई 'महाशय' बनना चाहता है, कोई 'प्रभु' बनना चाहता है, तो कोई राष्ट्रपति, धनवान या राजा या कुछ और बनना चाहता है। परन्तु जब तक हम इन उपाधियों से चिपके रहते हैं तब तक हम शरीर के प्रति आसक्त बने रहते हैं, क्योंकि ये उपाधियाँ शरीर से सम्बन्धित होती हैं। लेकिन हम शरीर नहीं हैं, और इसकी अनुभूति होना ही आत्म-साक्षात्कार की प्रथम अवस्था है। हम प्रकृति के तीन गुणों से जुड़े हुए हैं, किन्तु भगवद्भक्तिमय सेवा द्वारा हमें इनसे छूटना होगा। यदि हम भगवद्भक्तिमय सेवा के प्रति आसक्त नहीं होते तो प्रकृति के गुणों से छूट पाना दुष्कर है। उपाधियाँ तथा आसक्तियाँ हमारी कामवासना तथा इच्छा अर्थात् प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की चाह के कारण हैं। जब तक हम प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की प्रवृत्ति को नहीं त्यागते तब तक भगवान् के धाम, सनातन धाम, को वापस जाने की कोई सम्भावना नहीं है। इस नित्य अविनाशी धाम को वही प्राप्त होता है जो झूठे भौतिक भोगों के आकर्षणों द्वारा मोहग्रस्त नहीं होता, जो भगवान् की सेवा में स्थित रहता है। ऐसा व्यक्ति सहज ही परम धाम को प्राप्त होता है।

गीता में अन्यत्र (८.२१) कहा गया है :

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

अव्यक्त का अर्थ है—अप्रकट। हमारे समक्ष सारा भौतिक जगत तक प्रकट नहीं है।



हमारी इन्द्रियाँ इतनी अपूर्ण हैं कि हम इस ब्रह्माण्ड में सारे नक्षत्रों को भी नहीं देख पाते। वैदिक साहित्य से हमें सभी लोकों के विषय में प्रचुर जानकारी प्राप्त होती है। उस पर विश्वास करना या न करना हमारे ऊपर निर्भर करता है। वैदिक ग्रंथों में, विशेषतया श्रीमद्भागवतम् में, सभी महत्त्वपूर्ण लोकों का वर्णन है। इस भौतिक आकाश से परे आध्यात्मिक जगत है जो अव्यक्त या अप्रकट कहलाता है। व्यक्ति को भगवद्धाम की ही कामना तथा लालसा करनी चाहिए, क्योंकि जब उसको उस धाम की प्राप्ति हो जाती है, तब उसको वहाँ से फिर इस जगत में लौटना नहीं पड़ता।

इसके बाद प्रश्न पूछा जा सकता है कि उस भगवद्धाम तक कैसे पहुँचा जाता है? इसकी सूचना भगवद्गीता के आठवें अध्याय में (८.५) इस तरह दी गई है :

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

“अन्तकाल में जो कोई मेरा स्मरण करते हुए शरीर त्याग करता है वह तुरन्त मेरे स्वभाव को प्राप्त होता है, इसमें रंघमात्र भी सन्देह नहीं है।” जो व्यक्ति मृत्यु के समय कृष्ण का चिन्तन करता है, वह कृष्ण को प्राप्त होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह कृष्ण के स्वरूप का स्मरण करे; और यदि इस रूप का चिन्तन करते हुए वह मर जाता है, तो वह भगवद्धाम को प्राप्त होता है। मद्भावम् शब्द परम पुरुष के परम स्वभाव का सूचक है। परम पुरुष सच्चिदानन्दविग्रह है—अर्थात् उनका स्वरूप शाश्वत, ज्ञान तथा आनन्द से पूर्ण रहता है। हमारा यह शरीर सच्चिदानन्द नहीं है, यह सत् नहीं अपितु असत् है। यह शाश्वत नहीं अपितु नाशवान है, यह चित् अर्थात् ज्ञान से पूर्ण नहीं, अपितु अज्ञान से पूर्ण है। हमें भगवद्धाम का कोई ज्ञान नहीं है, यहाँ तक कि हमें इस भौतिक जगत तक का पूर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, जो हमें ज्ञात नहीं हैं। यह शरीर निरानन्द है, आनन्द से ओतप्रोत न होकर दुःखमय है। इस संसार में जितने भी दुखों का हमें अनुभव होता है, वे शरीर से उत्पन्न हैं, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण का चिन्तन करते हुए इस शरीर को त्यागता है, वह तुरन्त ही सच्चिदानन्द शरीर प्राप्त करता है।

इस शरीर को त्याग कर इस जगत में दूसरा शरीर धारण करना भी सुव्यवस्थित है। मनुष्य तभी मरता है जब यह निश्चित हो जाता है कि अगले जीवन में उसे किस प्रकार का शरीर प्राप्त होगा। इसका निर्णय उच्च अधिकारी करते हैं, स्वयं जीव नहीं करता। इस जीवन में अपने कर्मों के अनुसार हम उन्नति या अवनति करते हैं। यह जीवन अगले जीवन की तैयारी है। अतएव यदि हम इस जीवन में भगवद्धाम पहुँचने की तैयारी कर लेते हैं, तो इस शरीर को त्यागने के बाद हम भगवान् के ही सदृश आध्यात्मिक शरीर प्राप्त करते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अध्यात्मवादियों के कई प्रकार हैं—ब्रह्मवादी, परमात्मावादी तथा भक्त, और जैसा कि उल्लेख हो चुका है, ब्रह्मज्योति (आध्यात्मिक आकाश) में असंख्य आध्यात्मिक लोक हैं। इन लोकों की संख्या भौतिक जगत के लोकों की संख्या से कहीं अधिक बड़ी है। यह भौतिक जगत अखिल सृष्टि का केवल



चतुर्थांश है (एकांशेन स्थितो जगत)। इस भौतिक खण्ड में लाखों करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं, जिनमें अरबों लोक और सूर्य, तारे तथा चन्द्रमा हैं। किन्तु यह सारी भौतिक सृष्टि सम्पूर्ण सृष्टि का एक खण्ड मात्र है। अधिकांश सृष्टि तो आध्यात्मिक आकाश में है। जो व्यक्ति परब्रह्म से तदाकार होना चाहता है वह तुरन्त ही परमेश्वर की ब्रह्मज्योति में भेज दिया जाता है, और इस तरह वह आध्यात्मिक आकाश को प्राप्त होता है। जो भक्त भगवान् के सान्निध्य का भोग करना चाहता है वह वैकुण्ठ लोकों में प्रवेश करता है, जिनकी संख्या अनन्त है, जहाँ पर परमेश्वर अपने पूर्ण अंशों, चतुर्भुज नारायण के रूप में तथा प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा गोविन्द जैसे विभिन्न नामों से भक्तों के साथ-साथ रहते हैं। अतएव जीवन के अन्त में अध्यात्मवादी ब्रह्मज्योति, परमात्मा या भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं। प्रत्येक दशा में वे आध्यात्मिक आकाश में प्रविष्ट होते हैं, लेकिन केवल भक्त या परमेश्वर से सम्बन्धित रहने वाला ही वैकुण्ठलोक में या गोलोक वृन्दावन में प्रवेश करता है। भगवान् यह भी कहते हैं कि “इसमें कोई सन्देह नहीं है।” इस पर दृढ़ विश्वास करना चाहिए। हमें चाहिए कि जो हमारी कल्पना से मेल नहीं खाता, उसका बहिष्कार न करें। हमारी मनोवृत्ति अर्जुन की सी होनी चाहिए: “आपने जो कुछ कहा उस पर मैं विश्वास करता हूँ।” अतएव जब भगवान् यह कहते हैं कि मृत्यु के समय जो भी ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् के रूप में उनका चिन्तन करता है वह निश्चित रूप से आध्यात्मिक आकाश में प्रवेश करता है, तो इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस पर अविश्वास करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

भगवद्गीता में (८.६) उस सामान्य सिद्धान्त की भी व्याख्या है जो मृत्यु के समय ब्रह्म का चिन्तन करने से आध्यात्मिक धाम में प्रवेश करना सुगम बनाता है :

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

“अपने इस शरीर को त्यागते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है, वह अगले जन्म में उस-उस भाव को निश्चित रूप से प्राप्त होता है।” अब सर्वप्रथम हमें यह समझना चाहिए कि भौतिक प्रकृति परमेश्वर की एक शक्ति का प्रदर्शन है। विष्णु पुराण में (६.७.६९) भगवान् की समग्र शक्तियों का वर्णन हुआ है :

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।

अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥

परमेश्वर की शक्तियाँ विविध तथा असंख्य हैं और वे हमारी बुद्धि के परे हैं, लेकिन बड़े-बड़े विद्वान् मुनियों या मुक्तात्माओं ने इन शक्तियों का अध्ययन करके इन्हें तीन भागों में बाँटा है। सारी शक्तियाँ विष्णु-शक्ति हैं, अर्थात् वे भगवान् विष्णु की विभिन्न शक्तियाँ हैं। पहली शक्ति परा या आध्यात्मिक है। जीव भी परा शक्ति है जैसा कि पहले कहा जा चुका है। अन्य शक्तियाँ या भौतिक शक्तियाँ तामसी हैं। मृत्यु के समय हम या तो इस संसार की अपरा शक्ति में रहते हैं या फिर आध्यात्मिक जगत की शक्ति में चले जाते हैं।

अतएव भगवद्गीता में (८.६) कहा गया है :



यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

“अपने इस शरीर को त्यागते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है वह अगले जन्म में उस-उस भाव को निश्चित रूप से प्राप्त होता है।”

जीवन में हम या तो भौतिक या आध्यात्मिक शक्ति के विषय में सोचने के आदी हैं। हम अपने विचारों को भौतिक शक्ति से आध्यात्मिक शक्ति में किस प्रकार ले जा सकते हैं? ऐसे बहुत से साहित्य हैं—यथा समाचारपत्र, पत्रिकाएँ, उपन्यास आदि, जो हमारे विचारों को भौतिक शक्ति से भर देते हैं। इस समय हमें ऐसे साहित्य में लगे अपने चिन्तन को वैदिक साहित्य की ओर मोड़ना है। अतएव महर्षियों ने अनेक वैदिक ग्रंथ लिखे हैं, यथा पुराण। ये पुराण कल्पनाप्रसूत नहीं हैं, अपितु ऐतिहासिक लेख हैं। चैतन्य-चरितामृत में (मध्य २०.१२२) निम्नलिखित कथन है :

मायामुग्ध जीवेर नाहि स्वतः कृष्णज्ञान।

जीवेरे कृपाय कैला कृष्ण वेद-पुराण॥

भुलक्कड़ जीवों या बद्धजीवों ने परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भुला दिया है और वे सब भौतिक कार्यों के विषय में सोचने में मग्न रहते हैं। इनकी चिन्तन शक्ति को आध्यात्मिक आकाश की ओर मोड़ने के लिए ही कृष्णद्वैपायन व्यास ने प्रचुर वैदिक साहित्य प्रदान किया है। सर्वप्रथम उन्होंने वेद के चार विभाग किये, फिर उन्होंने उनकी व्याख्या पुराणों में की, और अल्पज्ञों के लिए उन्होंने महाभारत की रचना की। महाभारत में ही भगवद्गीता दी हुई है। तत्पश्चात् वैदिक साहित्य का सार वेदान्त-सूत्र में दिया गया है और भावी पथ-प्रदर्शन के लिए उन्होंने वेदान्त-सूत्र का सहज भाष्य भी कर दिया जो श्रीमद्भागवतम् कहलाता है। हमें इन वैदिक ग्रंथों के अध्ययन में अपना चित्त लगाना चाहिए। जिस प्रकार भौतिकवादी लोग नाना प्रकार के समाचार पत्र, पत्रिकाएँ तथा अन्य संसारी साहित्य को पढ़ने में ध्यान लगाते हैं, उसी तरह हमें भी व्यासदेव द्वारा प्रदत्त साहित्य के अध्ययन में ध्यान लगाना चाहिए। इस प्रकार हम मृत्यु के समय परमेश्वर का स्मरण कर सकेंगे। भगवान् द्वारा सुझाया गया यही एकमात्र उपाय है और वे इसके फल का विश्वास दिलाते हैं, “इसमें कोई सन्देह नहीं है।”

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥

“इसलिए, हे अर्जुन! तुम कृष्ण के रूप में मेरा सदैव चिन्तन करो, और साथ ही अपने युद्ध कर्म करते रहो। अपने कर्मों को मुझे अर्पित करके तथा अपने मन एवं बुद्धि को मुझ पर स्थिर करके तुम मुझे निश्चित रूप से प्राप्त करोगे।” (भगवद्गीता ८.७)।

वे अर्जुन से उसके कर्म (वृत्ति) को त्याग कर केवल अपना स्मरण करने के लिए नहीं कहते। भगवान् कभी भी कोई अव्यावहारिक बात का परामर्श नहीं देते। इस जगत में शरीर के पालन हेतु मनुष्य को कर्म करना होता है। कर्म के अनुसार मानव



समाज चार वर्णों में विभाजित है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। ब्राह्मण अथवा बुद्धिमान वर्ग एक प्रकार से कार्य करता है, क्षत्रिय या प्रशासक वर्ग दूसरी तरह से कार्य करता है। इसी प्रकार वणिक वर्ग तथा श्रमिक वर्ग भी अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं। मानव समाज में चाहे कोई श्रमिक हो, वणिक हो, प्रशासक हो या कि किसान हो, या फिर चाहे वह सर्वोच्च वर्ण का तथा साहित्यिक हो, वैज्ञानिक हो या धर्मशास्त्रज्ञ हो, उसे अपने जीवनयापन के लिए कार्य करना होता है। अतएव भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि उसे अपनी वृत्ति का त्याग नहीं करना है, अपितु वृत्ति में लगे रहकर कृष्ण का स्मरण करना चाहिए (मामनुस्मर)। यदि वह जीवन-संघर्ष करते हुए कृष्ण का स्मरण करने का अभ्यास नहीं करता तो वह मृत्यु के समय कृष्ण का स्मरण नहीं कर सकेगा। भगवान् चैतन्य भी यही उपदेश देते हैं। उनका कथन है—कीर्तनीयः सदा हरिः—मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के नामों का सदैव उच्चारण करने का अभ्यास करे। भगवान् का नाम तथा भगवान् अभिन्न हैं। उसी प्रकार अर्जुन को भगवान् की शिक्षा कि “मेरा स्मरण करो” तथा चैतन्य का यह आदेश कि “भगवान् कृष्ण के नामों का निरन्तर कीर्तन करो” एक ही हैं। इनमें कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि कृष्ण तथा कृष्ण के नाम में कोई अन्तर नहीं है। चरम दशा में नाम तथा नामी में कोई अन्तर नहीं होता। अतएव हमें चौबीसों घण्टे भगवान् के नामों का कीर्तन करके उनके स्मरण का अभ्यास करना होता है, और अपने जीवन को इस प्रकार ढालना होता है कि हम उन्हें सदा स्मरण करते रहें।

यह किस प्रकार सम्भव है? आचार्यों ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है। यदि कोई विवाहिता स्त्री परपुरुष में आसक्त होती है, या कोई पुरुष अपनी स्त्री को छोड़कर किसी पराई स्त्री में लिप्त होता है, तो यह आसक्ति अत्यन्त प्रबल होती है। ऐसी आसक्ति वाला अपने प्रेमी के विषय में निरन्तर सोचता रहता है। जो स्त्री अपने प्रेमी के विषय में सोचती रहती है वह अपने घरेलू कार्य करते समय भी उसी से मिलने के विषय में सोचती रहती है। वास्तव में वह अपने गृहकार्य को इतनी अधिक सावधानी से करती है कि उसका पति उसकी आसक्ति के विषय में सन्देह भी न कर सके। इसी प्रकार हमें परम प्रेमी श्रीकृष्ण को सदैव स्मरण करना चाहिए और साथ ही अपने कर्तव्यों को सुचारु रूप से करते रहना चाहिए। इसके लिए प्रेम की प्रगाढ़ भावना चाहिए। यदि हममें परमेश्वर के लिए प्रगाढ़ प्रेम हो तो हम अपना कर्म करते हुए उनका स्मरण भी कर सकते हैं। लेकिन हमें प्रेमभाव उत्पन्न करना होगा। उदाहरणार्थ, अर्जुन सदैव कृष्ण का चिन्तन करता था, वह कृष्ण का नित्य संगी था और साथ ही योद्धा भी। कृष्ण ने उसे युद्ध करना छोड़कर जंगल जाकर ध्यान करने की कभी सलाह नहीं दी। जब भगवान् कृष्ण अर्जुन को योग पद्धति बताते हैं तो अर्जुन कहता है कि इस पद्धति का अभ्यास कर सकना उसके लिए सम्भव नहीं।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।  
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥



“अर्जुन ने कहा: हे मधुसूदन! आपने जिस योग पद्धति का संक्षेप में वर्णन किया है, वह मेरे लिए अव्यावहारिक तथा असह्य प्रतीत होती है, क्योंकि मेरा मन अस्थिर तथा चंचल है।” भगवद्गीता (६.३३)।

लेकिन भगवान् कहते हैं :

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

“सम्पूर्ण योगियों में जो श्रद्धावान् योगी भक्तियोग के द्वारा मेरी आज्ञा का पालन करता है, अपने अन्तर में मेरे बारे में सोचता है, और मेरी दिव्य प्रेमभक्तिमय सेवा करता है, वह योग में मुझसे परम घनिष्ठतापूर्वक युक्त होता है और सब में श्रेष्ठ है। यही मेरा मत है।” (भगवद्गीता ६.४७) अतएव जो सदैव परमेश्वर का चिन्तन करता है, वह एक ही समय में सबसे बड़ा योगी, सर्वोच्च ज्ञानी तथा महानतम भक्त है। अर्जुन से भगवान् आगे भी कहते हैं कि क्षत्रिय होने के कारण वह युद्ध का त्याग नहीं कर सकता, किन्तु यदि वह कृष्ण का स्मरण करते हुए युद्ध करता है तो वह मृत्यु के समय कृष्ण का स्मरण कर सकेगा। परन्तु इसके लिए मनुष्य को भगवान् की दिव्य प्रेमभक्तिमय सेवा में पूर्णतया समर्पित होना होगा।

वास्तव में हम अपने शरीर से नहीं, अपितु अपने मन तथा बुद्धि से कर्म करते हैं। अतएव यदि मन तथा बुद्धि सदैव परमेश्वर के विचार में मग्न रहें तो स्वाभाविक है कि इन्द्रियाँ भी उनकी सेवा में लगी रहेंगी। इन्द्रियों के कार्य कम से कम बाहर से तो वे ही रहते हैं, लेकिन चेतना बदल जाती है। भगवद्गीता हमें सिखाती है कि किस प्रकार मन तथा बुद्धि को भगवान् के विचार में लीन रखा जाये। ऐसी तल्लीनता से मनुष्य भगवद्धाम को जाता है। यदि मन कृष्ण की सेवा में लग जाता है तो सारी इन्द्रियाँ स्वतः उनकी सेवा में लग जाती हैं। यह कला है, और यही भगवद्गीता का रहस्य भी है कि श्रीकृष्ण के विचार में पूरी तरह मग्न रहा जाये।

आधुनिक मनुष्य ने चन्द्रमा तक पहुँचने के लिए कठोर संघर्ष किया है, लेकिन उसने अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिए कठिन प्रयास नहीं किया। यदि मनुष्य को पचास वर्ष आगे जीना है, तो उसे चाहिए कि इस थोड़े समय को भगवान् का स्मरण करने के अभ्यास में लगाए। यह अभ्यास भक्तियोग है (श्रीमद्भागवतम् ७.५.२३) :

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

ये नौ विधियाँ हैं जिनमें स्वरूपसिद्ध व्यक्ति से भगवद्गीता का श्रवण करना सबसे सुगम है। तब व्यक्ति भगवत् चिन्तन की ओर मुड़ेगा। इससे परमेश्वर का स्मरण होगा और शरीर छोड़ने पर आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होगा जो परमेश्वर की संगति के लिए उपयुक्त है।

भगवान् आगे भी कहते हैं :

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥



“हे अर्जुन! जो व्यक्ति पथ पर विचलित हुए बिना अपने मन को निरन्तर मेरा स्मरण करने में व्यस्त रखता है और भगवान् के रूप में मेरा ध्यान करता है वह मुझको अवश्य प्राप्त होता है।” (भगवद्गीता ८.८)

यह कोई कठिन पद्धति नहीं है, तो भी इसे किसी अनुभवी व्यक्ति से सीखना चाहिए। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्—मनुष्य को चाहिए कि जो पहले से अभ्यास कर रहा हो उसके पास जाये। मन सदैव इधर-उधर उड़ता रहता है, किन्तु मनुष्य को चाहिए कि मन को भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप पर या उनके नामोच्चारण पर केन्द्रित करने का अभ्यास करे। मन स्वभावतः चंचल है, इधर-उधर जाता रहता है, लेकिन यह कृष्ण की ध्वनि पर स्थिर हो सकता है। इस प्रकार मनुष्य को परमं पुरुषम् अर्थात् दिव्यलोक में भगवान् का चिन्तन करना चाहिए और उनको प्राप्त करना चाहिए। चरम अनुभूति या चरम उपलब्धि के साधन भगवद्गीता में बताये गये हैं, और इस ज्ञान के द्वार सब के लिए खुले हैं। किसी के लिए रोक-टोक नहीं है। सभी श्रेणी के लोग भगवान् कृष्ण का चिन्तन करके उनके पास पहुँच सकते हैं, क्योंकि उनका श्रवण तथा चिन्तन हर एक के लिए सम्भव है।

भगवान् आगे भी कहते हैं (भगवद्गीता ९.३२-३३) :

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

इस तरह भगवान् कहते हैं कि वैश्य, पतिता स्त्री या श्रमिक अथवा अधमयोनि को प्राप्त मनुष्य भी ईश्वर को पा सकता है। उसे अत्यधिक विकसित बुद्धि की आवश्यकता नहीं पड़ती। बात यह है कि जो कोई भक्ति-योग के सिद्धान्त को स्वीकार करता है, और परमेश्वर को जीवन के आश्रय तत्त्व के रूप में, सर्वोच्च लक्ष्य या चरम लक्ष्य के रूप में, स्वीकार करता है, वह आध्यात्मिक आकाश में भगवान् तक पहुँच सकता है। यदि कोई भगवद्गीता में बताये गये सिद्धान्तों को ग्रहण करता है, तो वह अपना जीवन पूर्ण बना सकता है और जीवन की सारी समस्याओं का स्थायी हल पाता है। यही भगवद्गीता का सार सर्वस्व है।

सारांश यह है कि भगवद्गीता दिव्य साहित्य है जिसको ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए। गीता शास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान्—यदि कोई भगवद्गीता के उपदेशों का पालन करे तो वह जीवन के दुखों तथा चिन्ताओं से मुक्त हो सकता है। भय शोकादिवर्जितः। वह इस जीवन में सारे भय से मुक्त हो जाएगा और उसका अगला जीवन आध्यात्मिक होगा (गीता माहात्म्य १)।

एक अन्य लाभ भी होता है :

गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च।

नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च॥



“यदि कोई भगवद्गीता को निष्ठा तथा गम्भीरता के साथ पढ़ता है तो भगवान् की कृपा से उसके सारे पूर्व दुष्कर्मों के फलों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता” (गीता माहात्म्य २)। भगवान् भगवद्गीता के अन्तिम अंश (१८.६६) में जोर देकर कहते हैं :

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

“सब धर्मों को त्याग कर एकमात्र मेरी ही शरण में आओ। मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा। तुम डरो मत।” इस प्रकार अपनी शरण में आये भक्त का पूरा उत्तरदायित्व भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं और उसके समस्त पापों को क्षमा कर देते हैं।

मलिनेमोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।

सकृद्गीतामृतस्नानं संसारमलनाशनम्॥

“मनुष्य जल में स्नान करके नित्य अपने को स्वच्छ कर सकता है, लेकिन यदि कोई भगवद्गीता रूपी पवित्र गंगा-जल में एक बार भी स्नान कर ले तो वह भवसागर की मलिनता से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाता है। (गीता माहात्म्य ३)

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

चूँकि भगवद्गीता भगवान् के मुख से निकली है, अतएव किसी को अन्य वैदिक साहित्य पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती। उसे केवल भगवद्गीता का ही ध्यानपूर्वक तथा मनोयोग से श्रवण तथा पठन करना चाहिए। वर्तमान युग में लोग सांसारिक कार्यों में इतने व्यस्त हैं कि उनके लिए समस्त वैदिक साहित्य का अध्ययन कर पाना सम्भव नहीं रह गया है। परन्तु इसकी आवश्यकता भी नहीं है। केवल एक पुस्तक भगवद्गीता ही पर्याप्त है क्योंकि यह समस्त वैदिक ग्रंथों का सार है और इसका प्रवचन भगवान् ने किया है (गीता माहात्म्य ४)।

जैसा कि कहा गया है :

भारतामृतसर्वस्वं विष्णुवक्त्राद्विनिःसृतम्।

गीता-गङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

“जो गंगाजल पीता है उसे मुक्ति मिलती है। अतएव उसके लिए क्या कहा जाय जो भगवद्गीता का अमृत पान करता हो? भगवद्गीता महाभारत का अमृत है और इसे भगवान् कृष्ण (मूल विष्णु) ने स्वयं सुनाया है।” (गीता माहात्म्य ५)। भगवद्गीता भगवान् के मुख से निकली है और गंगा भगवान् के चरणकमलों से निकली है। निस्सन्देह भगवान् के मुख तथा चरणों में कोई अन्तर नहीं है लेकिन निष्पक्ष अध्ययन से हम पाएँगे कि भगवद्गीता गंगा-जल की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है :



सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

“यह गीतोपनिषद्, भगवद्गीता, जो समस्त उपनिषदों का सार है, गाय के तुल्य है, और ग्वालबाल के रूप में विख्यात भगवान् कृष्ण इस गाय को दुह रहे हैं। अर्जुन बछड़े के समान है, और सारे विद्वान तथा शुद्ध भक्त भगवद्गीता के अमृतमय दूध का पान करने वाले हैं।” (गीता माहात्म्य ६)

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्

एको देवो देवकीपुत्र एव ।

एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि

कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥

आज के युग में लोग एक शास्त्र, एक ईश्वर, एक धर्म तथा एक वृत्ति के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं। अतएव एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्—केवल एक शास्त्र भगवद्गीता हो, जो सारे विश्व के लिए हो। एको देवो देवकीपुत्र एव—सारे विश्व के लिए एक ईश्वर हो—श्रीकृष्ण। एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि—और एक मन्त्र, एक प्रार्थना हो—उनके नाम का कीर्तन, हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे। कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा—और केवल एक ही कार्य हो—भगवान् की सेवा। (गीता माहात्म्य ७)

• • •



## गुरु-परम्परा

एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयो विदुः (भगवद्गीता ४.२)। यह भगवद्गीता यथारूप इस गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त हुई है—

- |                    |                                    |
|--------------------|------------------------------------|
| १. श्रीकृष्ण       | १८. व्यासतीर्थ                     |
| २. ब्रह्मा         | १९. लक्ष्मीपति                     |
| ३. नारद            | २०. माधवेन्द्रपुरी                 |
| ४. व्यास           | २१. ईश्वरपुरी (नित्यानन्द, अद्वैत) |
| ५. मध्व            | २२. श्रीचैतन्य महाप्रभु            |
| ६. पद्मनाभ         | २३. रूप (स्वरूप, सनातन)            |
| ७. नृहरि           | २४. रघुनाथ, जीव                    |
| ८. माधव            | २५. कृष्णदास                       |
| ९. अक्षोभ्य        | २६. नरोत्तम                        |
| १०. जयतीर्थ        | २७. विश्वनाथ                       |
| ११. ज्ञानसिन्धु    | २८. (बलदेव) जगन्नाथ                |
| १२. दयानिधि        | २९. भक्तिविनोद                     |
| १३. विद्यानिधि     | ३०. गौरकिशोर                       |
| १४. राजेन्द्र      | ३१. भक्ति सिद्धान्त सरस्वती        |
| १५. जयधर्म         | ३२. ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी      |
| १६. पुरुषोत्तम     | प्रभुपाद ।                         |
| १७. ब्रह्मण्यतीर्थ |                                    |



## अध्याय एक



# कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में सैन्यनिरीक्षण

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रः उवाच—राजा धृतराष्ट्र ने कहा; धर्म-क्षेत्रे—धर्मभूमि (तीर्थस्थल) में; कुरु-क्षेत्रे—कुरुक्षेत्र नामक स्थान में; समवेताः—एकत्र; युयुत्सवः—युद्ध करने की इच्छा से; मामकाः—मेरे पक्ष (पुत्रों); पाण्डवाः—पाण्डु के पुत्रों ने; च—तथा; एव—निश्चय ही; किम्—क्या; अकुर्वत—किया; संजय—हे संजय ।

धृतराष्ट्र ने कहा—हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्र हुए मेरे तथा पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?

तात्पर्य : भगवद्गीता एक बहुपठित आस्तिक विज्ञान है जो गीता-माहात्म्य में सार रूप में दिया हुआ है । इसमें यह उल्लेख है कि मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीकृष्ण के भक्त



की सहायता से संवीक्षण करते हुए भगवद्गीता का अध्ययन करे और स्वार्थप्रेरित व्याख्याओं के बिना उसे समझने का प्रयास करे। अर्जुन ने जिस प्रकार से साक्षात् भगवान् कृष्ण से गीता सुनी और उसका उपदेश ग्रहण किया, इस प्रकार की स्पष्ट अनुभूति का उदाहरण भगवद्गीता में ही है। यदि उसी गुरु-परम्परा से, निजी स्वार्थ से प्रेरित हुए बिना, किसी को भगवद्गीता समझने का सौभाग्य प्राप्त हो तो वह समस्त वैदिक ज्ञान तथा विश्व के समस्त शास्त्रों के अध्ययन को पीछे छोड़ देता है। पाठक को भगवद्गीता में न केवल अन्य शास्त्रों की सारी बातें मिलेंगी अपितु ऐसी बातें भी मिलेंगी जो अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं हैं। यही गीता का विशिष्ट मानदण्ड है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा साक्षात् उच्चरित होने के कारण यह पूर्ण आस्तिक विज्ञान है।

महाभारत में वर्णित धृतराष्ट्र तथा संजय की वार्ताएँ इस महान दर्शन के मूल सिद्धान्त का कार्य करती हैं। माना जाता है कि इस दर्शन की प्रस्तुति कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में हुई जो वैदिक युग से पवित्र तीर्थस्थल रहा है। इसका प्रवचन भगवान् द्वारा मानव जाति के पथ-प्रदर्शन हेतु तब किया गया जब वे इस लोक में स्वयं उपस्थित थे।

धर्मक्षेत्र शब्द सार्थक है, क्योंकि कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन के पक्ष में श्रीभगवान् स्वयं उपस्थित थे। कौरवों का पिता धृतराष्ट्र अपने पुत्रों की विजय की सम्भावना के विषय में अत्यधिक संदिग्ध था। अतः इसी सन्देह के कारण उसने अपने सचिव से पूछा, “उन्होंने क्या किया?” वह आश्चर्य था कि उसके पुत्र तथा उसके छोटे भाई पाण्डु के पुत्र कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में निर्णयात्मक संग्राम के लिए एकत्र हुए हैं। फिर भी उसकी जिज्ञासा सार्थक है। वह नहीं चाहता था कि भाइयों में कोई समझौता हो, अतः वह युद्धभूमि में अपने पुत्रों की नियति (भाग्य, भावी) के विषय में आश्चर्य होना चाह रहा था। चूँकि इस युद्ध को कुरुक्षेत्र में लड़ा जाना था, जिसका उल्लेख वेदों में स्वर्ग के निवासियों के लिए भी तीर्थस्थल के रूप में हुआ है अतः धृतराष्ट्र अत्यन्त भयभीत था कि इस पवित्र स्थल का युद्ध के परिणाम पर न जाने कैसा प्रभाव पड़े। उसे भलीभाँति ज्ञात था कि इसका प्रभाव अर्जुन तथा पाण्डु के अन्य पुत्रों पर अत्यन्त अनुकूल पड़ेगा क्योंकि स्वभाव से वे सभी पुण्यात्मा थे। संजय श्री व्यास का शिष्य था, अतः उनकी कृपा से संजय धृतराष्ट्र के कक्ष में बैठे-बैठे कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल का दर्शन कर सकता था। इसीलिए धृतराष्ट्र ने उससे युद्धस्थल की स्थिति के विषय में पूछा।

पाण्डव तथा धृतराष्ट्र के पुत्र, दोनों ही एक वंश से सम्बन्धित हैं, किन्तु यहाँ पर धृतराष्ट्र के वाक्य से उसके मनोभाव प्रकट होते हैं। उसने जान-बूझ कर अपने पुत्रों को कुरु कहा और पाण्डु के पुत्रों को वंश के उत्तराधिकार से विलग कर दिया। इस तरह पाण्डु के पुत्रों अर्थात् अपने भतीजों के साथ धृतराष्ट्र की विशिष्ट मनःस्थिति समझी जा सकती है। जिस प्रकार धान के खेत से अवांछित पौधों को उखाड़ दिया जाता है उसी प्रकार इस कथा के आरम्भ से ही ऐसी आशा की जाती है कि जहाँ धर्म के पिता श्रीकृष्ण उपस्थित हों वहाँ कुरुक्षेत्र रूपी खेत में दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के पुत्र रूपी अवांछित पौधों को समूल नष्ट करके युधिष्ठिर आदि नितान्त धार्मिक पुरुषों की स्थापना की जायेगी। यहाँ धर्मक्षेत्र तथा कुरुक्षेत्र शब्दों की, उनकी ऐतिहासिक तथा वैदिक महत्ता के अतिरिक्त, यही सार्थकता है।



सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।

आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; दृष्ट्वा—देखकर; तु—लेकिन; पाण्डव-अनीकम्—पाण्डवों की सेना को; व्यूढम्—व्यूहरचना को; दुर्योधनः—राजा दुर्योधन ने; तदा—उस समय; आचार्यम्—शिक्षक, गुरु के; उपसंगम्य—पास जाकर; राजा—राजा; वचनम्—शब्द; अब्रवीत्—कहा।

संजय ने कहा—हे राजन्! पाण्डुपुत्रों द्वारा सेना की व्यूहरचना देखकर राजा दुर्योधन अपने गुरु के पास गया और उसने ये शब्द कहे।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र जन्म से अन्धा था। दुर्भाग्यवश वह आध्यात्मिक दृष्टि से भी वंचित था। वह यह भी जानता था कि उसी के समान उसके पुत्र भी धर्म के मामले में अंधे हैं और उसे विश्वास था कि वे पाण्डवों के साथ कभी भी समझौता नहीं कर पायेंगे क्योंकि पाँचों पाण्डव जन्म से ही पवित्र थे। फिर भी उसे तीर्थस्थान के प्रभाव के विषय में सन्देह था। इसीलिए संजय युद्धभूमि की स्थिति के विषय में उसके प्रश्न के मंतव्य को समझ गया। अतः वह निराश राजा को प्रोत्साहित करना चाह रहा था। उसने उसे विश्वास दिलाया कि उसके पुत्र पवित्र स्थान के प्रभाव में आकर किसी प्रकार का समझौता करने नहीं जा रहे हैं। उसने राजा को बताया कि उसका पुत्र दुर्योधन पाण्डवों की सेना को देखकर तुरन्त अपने सेनापति द्रोणाचार्य को वास्तविक स्थिति से अवगत कराने गया। यद्यपि दुर्योधन को राजा कह कर सम्बोधित किया गया है तो भी स्थिति की गम्भीरता के कारण उसे सेनापति के पास जाना पड़ा। अतएव दुर्योधन राजनीतिज्ञ बनने के लिए सर्वथा उपयुक्त था। किन्तु जब उसने पाण्डवों की व्यूहरचना देखी तो उसका यह कूटनीतिक व्यवहार उसके भय को छिपा न पाया।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।

व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

पश्य—देखिये; एताम्—इस; पाण्डु-पुत्राणाम्—पाण्डु के पुत्रों की; आचार्य—हे आचार्य (गुरु); महतीम्—विशाल; चमूम्—सेना को; व्यूढाम्—व्यवस्थित; द्रुपद-पुत्रेण—द्रुपद के पुत्र द्वारा; तव—तुम्हारे; शिष्येण—शिष्य द्वारा; धी-मता—अत्यन्त बुद्धिमान।

हे आचार्य! पाण्डुपुत्रों की विशाल सेना को देखें, जिसे आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद के पुत्र ने इतने कौशल से व्यवस्थित किया है।

तात्पर्य : परम राजनीतिज्ञ दुर्योधन महान ब्राह्मण सेनापति द्रोणाचार्य के दोषों को इंगित करना चाहता था। अर्जुन की पत्नी द्रौपदी के पिता राजा द्रुपद के साथ द्रोणाचार्य का कुछ राजनीतिक झगड़ा था। इस झगड़े के फलस्वरूप द्रुपद ने एक महान यज्ञ सम्पन्न किया जिससे उसे एक ऐसा पुत्र प्राप्त होने का वरदान मिला जो द्रोणाचार्य का वध कर सके। द्रोणाचार्य इसे भलीभाँति जानता था किन्तु जब द्रुपद का पुत्र धृष्टद्युम्न युद्ध-शिक्षा के लिए उसको सौंपा गया तो द्रोणाचार्य को उसे अपने सारे सैनिक रहस्य प्रदान करने



में कोई झिझक नहीं हुई। अब धृष्टद्युम्न कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में पाण्डवों का पक्ष ले रहा था और उसने द्रोणाचार्य से जो कला सीखी थी उसी के आधार पर उसने यह व्यूहरचना की थी। दुर्योधन ने द्रोणाचार्य की इस दुर्बलता की ओर इंगित किया जिससे वह युद्ध में सजग रहे और समझौता न करे। इसके द्वारा वह द्रोणाचार्य को यह भी बताना चाह रहा था कि कहीं वह अपने प्रिय शिष्य पाण्डवों के प्रति युद्ध में उदारता न दिखा बैठे। विशेष रूप से अर्जुन उसका अत्यन्त प्रिय एवं तेजस्वी शिष्य था। दुर्योधन ने यह भी चेतावनी दी कि युद्ध में इस प्रकार की उदारता से हार हो सकती है।

**अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।**

**युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४ ॥**

अत्र—यहाँ; शूराः—वीर; महा-इषु-आसाः—महान धनुर्धर; भीम-अर्जुन—भीम तथा अर्जुन; समाः—के समान; युधि—युद्ध में; युयुधानः—युयुधान; विराटः—विराट; च—भी; द्रुपदः—द्रुपद; च—भी; महारथः—महान योद्धा।

इस सेना में भीम तथा अर्जुन के समान युद्ध करने वाले अनेक वीर धनुर्धर हैं—यथा महारथी युयुधान, विराट तथा द्रुपद।

तात्पर्य : यद्यपि युद्धकला में द्रोणाचार्य की महान शक्ति के समक्ष धृष्टद्युम्न महत्त्वपूर्ण बाधक नहीं था किन्तु ऐसे अनेक योद्धा थे जिनसे भय था। दुर्योधन इन्हें विजय-पथ में अत्यन्त बाधक बताता है क्योंकि इनमें से प्रत्येक योद्धा भीम तथा अर्जुन के समान दुर्जेय था। उसे भीम तथा अर्जुन के बल का ज्ञान था, इसीलिए वह अन्यो की तुलना इन दोनों से करता है।

**धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।**

**पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५ ॥**

धृष्टकेतुः—धृष्टकेतु; चेकितानः—चेकितान; काशिराजः—काशिराज; च—भी; वीर्यवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; पुरुजित्—पुरुजित्; कुन्तिभोजः—कुन्तिभोज; च—तथा; शैब्यः—शैब्य; च—तथा; नरपुङ्गवः—मानव समाज में वीर।

इनके साथ ही धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज तथा शैब्य जैसे महान शक्तिशाली योद्धा भी हैं।

**युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।**

**सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६ ॥**

युधामन्युः—युधामन्यु; च—तथा; विक्रान्तः—पराक्रमी; उत्तमौजाः—उत्तमौजा; च—तथा; वीर्यवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; सौभद्रः—सुभद्रा का पुत्र; द्रौपदेयाः—द्रौपदी के पुत्र; च—तथा; सर्व—सभी; एव—निश्चय ही; महारथाः—महारथी।

पराक्रमी युधामन्यु, अत्यन्त शक्तिशाली उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र तथा द्रौपदी के पुत्र—ये सभी महारथी हैं।



अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।

नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

अस्माकम्—हमारे; तु—लेकिन; विशिष्टाः—विशेष शक्तिशाली; ये—जो; तान्—उनको; निबोध—जरा जान लीजिये, जानकारी प्राप्त कर लें; द्विज-उत्तम—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; नायकाः—सेनापति, कप्तान; मम—मेरी; सैन्यस्य—सेना के; संज्ञा-अर्थम्—सूचना के लिए; तान्—उन्हें; ब्रवीमि—बता रहा हूँ; ते—आपको ।

किन्तु हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! आपकी सूचना के लिए मैं अपनी सेना के उन नायकों के विषय में बताना चाहूँगा जो मेरी सेना को संचालित करने में विशेष रूप से निपुण हैं ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।

अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

भवान्—आप; भीष्मः—भीष्म पितामह; च—भी; कर्णः—कर्ण; च—और; कृपः—कृपाचार्य; च—तथा; समितिञ्जयः—सदा संग्राम-विजयी; अश्वत्थामा—अश्वत्थामा; विकर्णः—विकर्ण; च—तथा; सौमदत्तिः—सौमदत्त का पुत्र; तथा—भी; एव—निश्चय ही; च—भी ।

मेरी सेना में स्वयं आप, भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण तथा सौमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा आदि हैं जो युद्ध में सदैव विजयी रहे हैं ।

तात्पर्य : दुर्योधन उन अद्वितीय युद्धवीरों का उल्लेख करता है जो सदैव विजयी होते रहे हैं । विकर्ण दुर्योधन का भाई है, अश्वत्थामा द्रोणाचार्य का पुत्र है और सौमदत्ति या भूरिश्रवा बाह्लीकों के राजा का पुत्र है । कर्ण अर्जुन का आधा भाई है क्योंकि वह कुन्ती के गर्भ से राजा पाण्डु के साथ विवाहित होने के पूर्व उत्पन्न हुआ था । कृपाचार्य की जुड़वा बहन द्रोणाचार्य को ब्याही थी ।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।

नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अन्ये—अन्य सब; च—भी; बहवः—अनेक; शूराः—वीर; मत्—अर्थ—मेरे लिए; त्यक्त-जीविताः—जीवन का उत्सर्ग करने वाले; नाना—अनेक; शस्त्र—आयुध; प्रहरणाः—से युक्त, सुसज्जित; सर्वे—सभी; युद्ध-विशारदाः—युद्धविद्या में निपुण ।

ऐसे अन्य अनेक वीर भी हैं जो मेरे लिए अपना जीवन त्याग करने के लिए उद्यत हैं । वे विविध प्रकार के हथियारों से सुसज्जित हैं और युद्धविद्या में निपुण हैं ।

तात्पर्य : जहाँ तक अन्यो का—यथा जयद्रथ, कृतवर्मा तथा शल्य का सम्बन्ध है वे सब दुर्योधन के लिए अपने प्राणों की आहुति देने के लिए तैयार रहते थे । दूसरे शब्दों में, यह पूर्वनिश्चित है कि वे अब पापी दुर्योधन के दल में सम्मिलित होने के कारण कुरुक्षेत्र के युद्ध में मारे जायेंगे । निस्सन्देह अपने मित्रों की संयुक्त-शक्ति के कारण दुर्योधन अपनी विजय के प्रति आश्वस्त था ।



अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।

पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अपर्याप्तम्—अपरिमेय; तत्—वह; अस्माकम्—हमारी; बलम्—शक्ति; भीष्म—भीष्म पितामह द्वारा; अभिरक्षितम्—भलीभाँति संरक्षित; पर्याप्तम्—सीमित; तु—लेकिन; इदम्—यह सब; एतेषाम्—पाण्डवों की; बलम्—शक्ति; भीम—भीम द्वारा; अभिरक्षितम्—भलीभाँति सुरक्षित ।

हमारी शक्ति अपरिमेय है और हम सब पितामह द्वारा भलीभाँति संरक्षित हैं, जबकि पाण्डवों की शक्ति भीम द्वारा भलीभाँति संरक्षित होकर भी सीमित है ।

तात्पर्य : यहाँ पर दुर्योधन ने तुलनात्मक शक्ति का अनुमान प्रस्तुत किया है । वह सोचता है कि अत्यन्त अनुभवी सेनानायक भीष्म पितामह के द्वारा विशेष रूप से संरक्षित होने के कारण उसकी सशस्त्र सेनाओं की शक्ति अपरिमेय है । दूसरी ओर पाण्डवों की सेनाएँ सीमित हैं क्योंकि उनकी सुरक्षा एक कम अनुभवी नायक भीम द्वारा की जा रही है जो भीष्म की तुलना में नगण्य है । दुर्योधन सदैव भीम से ईर्ष्या करता था क्योंकि वह जानता था कि यदि उसकी मृत्यु कभी हुई भी तो वह भीम के द्वारा ही होगी । किन्तु साथ ही उसे दृढ़ विश्वास था कि भीष्म की उपस्थिति में उसकी विजय निश्चित है क्योंकि भीष्म कहीं अधिक उत्कृष्ट सेनापति हैं । वह युद्ध में विजयी होगा यह उसका दृढ़ निश्चय था ।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अयनेषु—मोर्चों में; च—भी; सर्वेषु—सर्वत्र; यथा-भागम्—अपने-अपने स्थानों पर; अवस्थिताः—स्थित; भीष्मम्—भीष्म पितामह की; एव—निश्चय ही; अभिरक्षन्तु—सहायता करनी चाहिए; भवन्तः—आप; सर्वे—सब के सब; एव हि—निश्चय ही ।

अतएव सैन्यव्यूह में अपने-अपने मोर्चों पर खड़े रहकर आप सभी भीष्म पितामह को पूरी-पूरी सहायता दें ।

तात्पर्य : भीष्म पितामह के शौर्य की प्रशंसा करने के बाद दुर्योधन ने सोचा कि कहीं अन्य योद्धा यह न समझ लें कि उन्हें कम महत्त्व दिया जा रहा है अतः दुर्योधन ने अपने सहज कूटनीतिक ढंग से स्थिति सँभालने के उद्देश्य से उपर्युक्त शब्द कहे । उसने बलपूर्वक कहा कि भीष्मदेव निस्सन्देह महानतम योद्धा हैं किन्तु अब वे वृद्ध हो चुके हैं अतः प्रत्येक सैनिक को चाहिए कि चारों ओर से उनकी सुरक्षा का विशेष ध्यान रखे । हो सकता है कि वे किसी एक दिशा में युद्ध करने में लग जायँ और शत्रु इस व्यस्तता का लाभ उठा ले । अतः यह आवश्यक है कि अन्य योद्धा मोर्चों पर अपनी-अपनी स्थिति पर अडिग रहें और शत्रु को व्यूह न तोड़ने दें ।

दुर्योधन को पूर्ण विश्वास था कि कुरुओं की विजय भीष्मदेव की उपस्थिति पर निर्भर है । उसे युद्ध में भीष्मदेव तथा द्रोणाचार्य के पूर्ण सहयोग की आशा थी क्योंकि वह अच्छी तरह जानता था कि इन दोनों ने उस समय एक शब्द भी नहीं कहा था जब अर्जुन की पत्नी द्रौपदी को असहायावस्था में भरी सभा में नग्न किया जा रहा था और जब उसने



उनसे न्याय की भीख माँगी थी। यह जानते हुए भी कि इन दोनों सेनापतियों के मन में पाण्डवों के लिए स्नेह था, दुर्योधन को आशा थी कि वे इस स्नेह को उसी तरह त्याग देंगे जिस तरह उन्होंने द्यूत-क्रीड़ा के अवसर पर किया था।

**तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।**

**सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥१२॥**

तस्य—उसका; सञ्जनयन्—बढ़ाते हुए; हर्षम्—हर्ष; कुरु-वृद्धः—कुरुवंश के वयोवृद्ध (भीष्म); पितामहः—पितामह, बाबा; सिंह-नादम्—सिंह की सी गर्जना; विनद्य—गरज कर; उच्चैः—उच्च स्वर से; शङ्खम्—शंख; दध्मौ—बजाया; प्रताप-वान्—बलशाली।

तब कुरुवंश के वयोवृद्ध परम प्रतापी एवं वृद्ध पितामह ने सिंह-गर्जना की सी ध्वनि करने वाले अपने शंख को उच्च स्वर से बजाया, जिससे दुर्योधन को हर्ष हुआ।

तात्पर्य : कुरुवंश के वयोवृद्ध पितामह अपने पौत्र दुर्योधन का मनोभाव जान गये और उसके प्रति अपनी स्वाभाविक दयावश उन्होंने उसे प्रसन्न करने के लिए अत्यन्त उच्च स्वर से अपना शंख बजाया जो उनकी सिंह के समान स्थिति के अनुरूप था। अप्रत्यक्ष रूप में शंख के द्वारा प्रतीकात्मक ढंग से उन्होंने अपने हताश पौत्र दुर्योधन को बता दिया कि उन्हें युद्ध में विजय की आशा नहीं है क्योंकि दूसरे पक्ष में साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हैं। फिर भी युद्ध का मार्गदर्शन करना उनका कर्तव्य था और इस सम्बन्ध में वे कोई कसर नहीं रखेंगे।

**ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।**

**सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥१३॥**

ततः—तत्पश्चात्; शङ्खाः—शंख; च—भी; भेर्यः—बड़े-बड़े ढोल, नगाड़े; च—तथा; पणव-आनक—ढोल तथा मृदंग; गोमुखाः—शृंग; सहसा—अचानक; एव—निश्चय ही; अभ्यहन्यन्त—एकसाथ बजाये गये; सः—वह; शब्दः—समवेत स्वर; तुमुलः—कोलाहलपूर्ण; अभवत्—हो गया।

तत्पश्चात् शंख, नगाड़े, बिगुल, तुरही तथा सींग सहसा एकसाथ बज उठे। वह समवेत स्वर अत्यन्त कोलाहलपूर्ण था।

**ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।**

**माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥१४॥**

ततः—तत्पश्चात्; श्वेतैः—श्वेत; हयैः—घोड़ों से; युक्ते—युक्त; महति—विशाल; स्यन्दने—रथ में; स्थितौ—आसीन; माधवः—कृष्ण (लक्ष्मीपति) ने; पाण्डवः—अर्जुन (पाण्डुपुत्र) ने; च—तथा; एव—निश्चय ही; दिव्यौ—दिव्य; शङ्खौ—शंख; प्रदध्मतुः—बजाये।

दूसरी ओर से श्वेत घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले विशाल रथ पर आसीन कृष्ण तथा अर्जुन ने अपने-अपने दिव्य शंख बजाये।



तात्पर्य : भीष्मदेव द्वारा बजाये गये शंख की तुलना में कृष्ण तथा अर्जुन के शंखों को दिव्य कहा गया है। दिव्य शंखों के नाद से यह सूचित हो रहा था कि दूसरे पक्ष की विजय की कोई आशा न थी क्योंकि कृष्ण पाण्डवों के पक्ष में थे। जयस्तु पाण्डुपुत्राणां येषां पक्षे जनार्दनः—जय सदा पाण्डु के पुत्र-जैसों की होती है क्योंकि भगवान् कृष्ण उनके साथ हैं। और जहाँ जहाँ भगवान् विद्यमान हैं, वहीं वहीं लक्ष्मी भी रहती है क्योंकि वे अपने पति के बिना नहीं रह सकतीं। अतः जैसा कि विष्णु या भगवान् कृष्ण के शंख द्वारा उत्पन्न दिव्य ध्वनि से सूचित हो रहा था, विजय तथा श्री दोनों ही अर्जुन की प्रतीक्षा कर रही थीं। इसके अतिरिक्त, जिस रथ में दोनों मित्र आसीन थे वह अर्जुन को अग्नि देवता द्वारा प्रदत्त था और इससे सूचित हो रहा था कि तीनों लोकों में जहाँ कहीं भी यह जायेगा, वहाँ विजय निश्चित है।

**पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।**

**पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥१५॥**

पाञ्चजन्यम्—पाञ्चजन्य नामक; हृषीकेशः—हृषीकेश (कृष्ण जो भक्तों की इन्द्रियों को निर्देश करते हैं) ने; देवदत्तम्—देवदत्त नामक शंख; धनम्-जयः—धनञ्जय (अर्जुन, धन को जीतने वाला) ने; पौण्ड्रम्—पौण्ड्र नामक शंख; दध्मौ—बजाया; महा-शङ्खम्—भीषण शंख; भीम-कर्मा—अतिमानवीय कर्म करने वाले; वृक-उदरः—(अतिभोजी) भीम ने।

भगवान् कृष्ण ने अपना पाञ्चजन्य शंख बजाया, अर्जुन ने देवदत्त शंख तथा अतिभोजी एवं अतिमानवीय कार्य करने वाले भीम ने पौण्ड्र नामक भयंकर शंख बजाया।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् कृष्ण को हृषीकेश कहा गया है क्योंकि वे ही समस्त इन्द्रियों के स्वामी हैं। सारे जीव उनके भिन्नांश हैं अतः जीवों की इन्द्रियाँ भी उनकी इन्द्रियों के अंश हैं। चूँकि निर्विशेषवादी जीवों की इन्द्रियों का कारण बताने में असमर्थ हैं इसीलिए वे जीवों को इन्द्रियरहित या निर्विशेष कहने के लिए उत्सुक रहते हैं। भगवान् समस्त जीवों के हृदयों में स्थित होकर उनकी इन्द्रियों का निर्देशन करते हैं। किन्तु वे इस तरह निर्देशन करते हैं कि जीव उनकी शरण ग्रहण कर ले और विशुद्ध भक्त की इन्द्रियों का तो वे प्रत्यक्ष निर्देशन करते हैं। यहाँ कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में भगवान् कृष्ण अर्जुन की दिव्य इन्द्रियों का निर्देशन करते हैं इसीलिए उनको हृषीकेश कहा गया है। भगवान् के विविध कार्यों के अनुसार उनके भिन्न-भिन्न नाम हैं। उदाहरणार्थ, इनका एक नाम मधुसूदन है क्योंकि उन्होंने मधु नाम के असुर को मारा था, वे गौवों तथा इन्द्रियों को आनन्द देने के कारण गोविन्द कहलाते हैं, वसुदेव के पुत्र होने के कारण इनका नाम वासुदेव है, देवकी को माता रूप में स्वीकार करने के कारण इनका नाम देवकीनन्दन है, वृन्दावन में यशोदा के साथ बाल-लीलाएँ करने के कारण ये यशोदानन्दन हैं, अपने मित्र अर्जुन का सारथी बनने के कारण पार्थसारथी हैं। इसी प्रकार उनका एक नाम हृषीकेश है, क्योंकि उन्होंने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन का निर्देशन किया।

इस श्लोक में अर्जुन को धनञ्जय कहा गया है क्योंकि जब इनके बड़े भाई को



विभिन्न यज्ञ सम्पन्न करने के लिए धन की आवश्यकता हुई थी तो उसे प्राप्त करने में इन्होंने सहायता की थी। इसी प्रकार भीम वृकोदर कहलाते हैं क्योंकि जैसे वे अधिक खाते हैं उसी प्रकार वे अतिमानवीय कार्य करने वाले हैं, जैसे हिडिम्बासुर का वध। अतः पाण्डवों के पक्ष में श्रीकृष्ण इत्यादि विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विशेष प्रकार के शंखों का बजाया जाना युद्ध करने वाले सैनिकों के लिए अत्यन्त प्रेरणाप्रद था। विपक्ष में ऐसा कुछ न था; न तो परम निदेशक भगवान् कृष्ण थे, न ही भाग्य की देवी (श्री) थीं। अतः युद्ध में उनकी पराजय पूर्वनिश्चित थी—शंखों की ध्वनि मानो यही सन्देश दे रही थी।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ १६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।

सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥ १८॥

अनन्त-विजयम्—अनन्त विजय नाम का शंख; राजा—राजा; कुन्ती-पुत्रः—कुन्ती के पुत्र; युधिष्ठिरः—युधिष्ठिर; नकुलः—नकुल; सहदेवः—सहदेव ने; च—तथा; सुघोष-मणिपुष्पकौ—सुघोष तथा मणिपुष्पक नामक शंख; काश्यः—काशी (वाराणसी) के राजा ने; च—तथा; परम-ईषु-आसः—महान धनुर्धर; शिखण्डी—शिखण्डी ने; च—भी; महा-रथः—हजारों से अकेले लड़ने वाले; धृष्टद्युम्नः—धृष्टद्युम्न (राजा द्रुपद के पुत्र)ने; विराटः—विराट (राजा जिसने पाण्डवों को उनके अज्ञात-वास के समय शरण दी)ने; च—भी; सात्यकिः—सात्यकि (युयुधान, श्रीकृष्ण के साथी) ने; च—तथा; अपराजितः—कभी न जीता जाने वाला, सदा विजयी; द्रुपदः—द्रुपद, पंचाल के राजा ने; द्रौपदेयाः—द्रौपदी के पुत्रों ने; च—भी; सर्वशः—सभी; पृथिवी-पते—हे राजा; सौभद्रः—सुभद्रापुत्र अभिमन्यु ने; च—भी; महा-बाहुः—विशाल भुजाओं वाला; शङ्खान्—शंख; दध्मुः—बजाए; पृथक्-पृथक्—अलग अलग।

हे राजन्! कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अपना अनन्तविजय नामक शंख बजाया तथा नकुल और सहदेव ने सुघोष एवं मणिपुष्पक शंख बजाये। महान धनुर्धर काशीराज, परम योद्धा शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र तथा सुभद्रा के महाबाहु पुत्र आदि सबों ने अपने-अपने शंख बजाये।

तात्पर्य : संजय ने राजा धृतराष्ट्र को अत्यन्त चतुराई से यह बताया कि पाण्डु के पुत्रों को धोखा देने तथा राज्यसिंहासन पर अपने पुत्रों को आसीन कराने की यह अविवेकपूर्ण नीति श्लाघनीय नहीं थी। लक्षणों से पहले से ही यह सूचित हो रहा था कि इस महायुद्ध में सारा कुरुवंश मारा जायेगा। भीष्म पितामह से लेकर अभिमन्यु तथा अन्य पौत्रों तक विश्व के अनेक देशों के राजाओं समेत उपस्थित सारे के सारे लोगों का विनाश निश्चित था। यह सारी दुर्घटना राजा धृतराष्ट्र के कारण होने जा रही थी क्योंकि उसने अपने पुत्रों की कुनीति को प्रोत्साहन दिया था।



स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।

नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

सः—उस; घोषः—शब्द ने; धार्तराष्ट्राणाम्—धृतराष्ट्र के पुत्रों के; हृदयानि—हृदयों को; व्यदारयत्—विदीर्ण कर दिया; नभः—आकाश; च—भी; पृथिवीम्—पृथ्वीतल को; च—भी; एव—निश्चय ही; तुमुलः—कोलाहलपूर्ण; अभ्यनुनादयन्—प्रतिध्वनित करता, शब्दायमान करता ।

इन विभिन्न शंखों की ध्वनि कोलाहलपूर्ण बन गई जो आकाश तथा पृथ्वी को शब्दायमान करती हुई धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को विदीर्ण करने लगी ।

तात्पर्य : जब भीष्म तथा दुर्योधन के पक्ष के अन्य वीरों ने अपने-अपने शंख बजाये तो पाण्डवों के हृदय विदीर्ण नहीं हुए । ऐसी घटनाओं का वर्णन नहीं मिलता किन्तु इस विशिष्ट श्लोक में कहा गया है कि पाण्डव पक्ष के शंखनाद से धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय विदीर्ण हो गये । इसका कारण स्वयं पाण्डव और भगवान् कृष्ण में उनका विश्वास है । परमेश्वर की शरण ग्रहण करने वाले को किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता चाहे वह कितनी ही विपत्ति में क्यों न हो ।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।

प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ॥ २० ॥

अथ—तत्पश्चात्; व्यवस्थितान्—स्थित; दृष्ट्वा—देखकर; धार्तराष्ट्रान्—धृतराष्ट्र के पुत्रों को; कपिध्वजः—जिसकी पताका पर हनुमान अंकित हैं; प्रवृत्ते—कटिबद्ध; शस्त्र-सम्पाते—बाण चलाने के लिए; धनुः—धनुष; उद्यम्य—ग्रहण करके, उठाकर; पाण्डवः—पाण्डुपुत्र (अर्जुन) ने; हृषीकेशम्—भगवान् कृष्ण से; तदा—उस समय; वाक्यम्—वचन; इदम्—ये; आह—कहे; मही-पते—हे राजा ।

उस समय हनुमान से अंकित ध्वजा लगे रथ पर आसीन पाण्डुपुत्र अर्जुन अपना धनुष उठा कर तीर चलाने के लिए उद्यत हुआ । हे राजन्! धृतराष्ट्र के पुत्रों को व्यूह में खड़ा देखकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से ये वचन कहे ।

तात्पर्य : युद्ध प्रारम्भ होने ही वाला था । उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि पाण्डवों की सेना की अप्रत्याशित व्यवस्था से धृतराष्ट्र के पुत्र बहुत कुछ निरुत्साहित थे क्योंकि युद्धभूमि में पाण्डवों का निर्देशन भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार हो रहा था । अर्जुन की ध्वजा पर हनुमान का चिन्ह भी विजय का सूचक है क्योंकि हनुमान ने राम तथा रावण युद्ध में राम की सहायता की थी जिससे राम विजयी हुए थे । इस समय अर्जुन की सहायता के लिए उनके रथ पर राम तथा हनुमान दोनों उपस्थित थे । भगवान् कृष्ण साक्षात् राम हैं और जहाँ भी राम रहते हैं वहाँ उनका नित्य सेवक हनुमान होता है तथा उनकी नित्यसंगिनी, वैभव की देवी सीता उपस्थित रहती हैं । अतः अर्जुन के लिए किसी भी शत्रु से भय का कोई कारण नहीं था । इससे भी अधिक इन्द्रियों के स्वामी भगवान्



कृष्ण निर्देश देने के लिए साक्षात् उपस्थित थे। इस प्रकार अर्जुन को युद्ध करने के मामले में सारा सत्परामर्श प्राप्त था। ऐसी स्थितियों में, जिनकी व्यवस्था भगवान् ने अपने शाश्वत भक्त के लिए की थी, निश्चित विजय के लक्षण स्पष्ट थे।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्॥ २१॥

कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्नरणसमुद्यमे॥ २२॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; सेनयोः—सेनाओं के; उभयोः—दोनों; मध्ये—बीच में; रथम्—रथ को; स्थापय—कृपया खड़ा करें; मे—मेरे; अच्युत—हे अच्युत; यावत्—जब तक; एतान्—इन सब; निरीक्षे—देख सकूँ; अहम्—मैं; योद्धु-कामान्—युद्ध की इच्छा रखने वालों को; अवस्थितान्—युद्धभूमि में एकत्र; कैः—किन-किन से; मया—मेरे द्वारा; सह—एक साथ; योद्धव्यम्—युद्ध किया जाना है; अस्मिन्—इस; रण—संघर्ष, झगड़ा के; समुद्यमे—उद्यम या प्रयास में।

अर्जुन ने कहा—हे अच्युत! कृपा करके मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच ले चलें जिससे मैं यहाँ उपस्थित युद्ध की अभिलाषा रखने वालों को और शस्त्रों की इस महान परीक्षा में, जिनसे मुझे संघर्ष करना है, उन्हें देख सकूँ।

तात्पर्य : यद्यपि श्रीकृष्ण साक्षात् श्रीभगवान् हैं, किन्तु वे अहैतुकी कृपावश अपने मित्र की सेवा में लगे हुए थे। वे अपने भक्तों पर स्नेह दिखाने में कभी नहीं चूकते इसीलिए अर्जुन ने उन्हें अच्युत कहा है। सारथी रूप में उन्हें अर्जुन की आज्ञा का पालन करना था और उन्होंने इसमें कोई संकोच नहीं किया, अतः उन्हें अच्युत कह कर सम्बोधित किया गया है। यद्यपि उन्होंने अपने भक्त का सारथी-पद स्वीकार किया था, किन्तु इससे उनकी परम स्थिति अक्षुण्ण बनी रही। प्रत्येक परिस्थिति में वे इन्द्रियों के स्वामी श्रीभगवान् हृषीकेश हैं। भगवान् तथा उनके सेवक का सम्बन्ध अत्यन्त मधुर एवं दिव्य होता है। सेवक स्वामी की सेवा करने के लिए सदैव उद्यत रहता है और भगवान् भी भक्त की कुछ न कुछ सेवा करने की कोशिश में रहते हैं। वे इसमें विशेष आनन्द का अनुभव करते हैं कि वे स्वयं आज्ञादाता न बनें अपितु उनके शुद्ध भक्त उन्हें आज्ञा दें। चूँकि वे स्वामी हैं, अतः सभी लोग उनके आज्ञापालक हैं और उनके ऊपर उनको आज्ञा देने वाला कोई नहीं है। किन्तु जब वे देखते हैं कि उनका शुद्ध भक्त आज्ञा दे रहा है तो उन्हें दिव्य आनन्द मिलता है यद्यपि वे समस्त परिस्थितियों में अच्युत रहने वाले हैं।

भगवान् का शुद्ध भक्त होने के कारण अर्जुन को अपने बन्धु-बान्धवों से युद्ध करने की तनिक भी इच्छा न थी, किन्तु दुर्योधन द्वारा शान्तिपूर्ण समझौता न करके हठधर्मिता पर उतारू होने के कारण उसे युद्धभूमि में आना पड़ा। अतः वह यह जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक था कि युद्धभूमि में कौन-कौन से अग्रणी व्यक्ति उपस्थित हैं। यद्यपि युद्धभूमि में शान्ति-प्रयासों का कोई प्रश्न नहीं उठता तो भी वह उन्हें फिर से देखना चाह रहा था और यह देखना चाह रहा था कि वे इस अवांछित युद्ध पर किस हद तक तुले हुए हैं।



योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

योत्स्यमानान्—युद्ध करने वालों को; अवेक्षे—देखूँ; अहम्—मैं; ये—जो; एते—वे; अत्र—यहाँ; समागताः—एकत्र; धार्तराष्ट्रस्य—धृतराष्ट्र के पुत्र की; दुर्बुद्धेः—दुर्बुद्धि; युद्धे—युद्ध में; प्रिय—मंगल, भला; चिकीर्षवः—चाहने वाले ।

मुझे उन लोगों को देखने दीजिये जो यहाँ पर धृतराष्ट्र के दुर्बुद्धि पुत्र (दुर्योधन) को प्रसन्न करने की इच्छा से लड़ने के लिए आये हुए हैं ।

तात्पर्य : यह सर्वविदित था कि दुर्योधन अपने पिता धृतराष्ट्र की साँठगाँठ से पापपूर्ण योजनाएँ बनाकर पाण्डवों के राज्य को हड़पना चाहता था । अतः जिन समस्त लोगों ने दुर्योधन का पक्ष ग्रहण किया था वे उसी के समानधर्मा रहे होंगे । अर्जुन युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व यह तो जान ही लेना चाहता था कि कौन-कौन से लोग आये हुए हैं । किन्तु उनके समक्ष समझौता का प्रस्ताव रखने की उसकी कोई योजना नहीं थी । यह भी तथ्य था कि वह उनकी शक्ति का, जिसका उसे सामना करना था, अनुमान लगाने की दृष्टि से उन्हें देखना चाह रहा था, यद्यपि उसे अपनी विजय का विश्वास था क्योंकि कृष्ण उसकी बगल में विराजमान थे ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; उक्तः—कहे गये; हृषीकेशः—भगवान् कृष्ण ने; गुडाकेशेन—अर्जुन द्वारा; भारत—हे भरत के वंशज; सेनयोः—सेनाओं के; उभयोः—दोनों; मध्ये—मध्य में; स्थापयित्वा—खड़ा करके; रथ-उत्तमम्—उस उत्तम रथ को ।

संजय ने कहा—हे भरतवंशी! अर्जुन द्वारा इस प्रकार सम्बोधित किये जाने पर भगवान् कृष्ण ने दोनों दलों के बीच में उस उत्तम रथ को लाकर खड़ा कर दिया ।

तात्पर्य : इस श्लोक में अर्जुन को गुडाकेश कहा गया है । गुडाका का अर्थ है नींद और जो नींद को जीत लेता है वह गुडाकेश है । नींद का अर्थ अज्ञान भी है । अतः अर्जुन ने कृष्ण की मित्रता के कारण नींद तथा अज्ञान दोनों पर विजय प्राप्त की थी । कृष्ण के भक्त के रूप में वह कृष्ण को क्षण भर भी नहीं भुला पाया क्योंकि भक्त का स्वभाव ही ऐसा होता है । यहाँ तक कि चलते अथवा सोते हुए भी कृष्ण के नाम, रूप, गुणों तथा लीलाओं के चिन्तन से भक्त कभी मुक्त नहीं रह सकता । अतः कृष्ण का भक्त उनका निरन्तर चिन्तन करते हुए नींद तथा अज्ञान दोनों को जीत सकता है । इसी को कृष्णभावनामृत या समाधि कहते हैं । प्रत्येक जीव की इन्द्रियों तथा मन के निर्देशक अर्थात् हृषीकेश के रूप में कृष्ण अर्जुन के मन्तव्य को समझ गये कि वह क्यों सेनाओं के मध्य में रथ को खड़ा करवाना चाहता है । अतः उन्होंने वैसा ही किया और फिर वे इस प्रकार बोले ।



**भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।**

**उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरुनिति ॥ २५ ॥**

भीष्म—भीष्म पितामह; द्रोण—गुरु द्रोण; प्रमुखतः—के समक्ष; सर्वेषाम्—सबों के; च—भी; मही-क्षिताम्—संसार भर के राजा; उवाच—कहा; पार्थ—हे पृथा के पुत्र; पश्य—देखो; एतान्—इन सबों को; समवेतान्—एकत्रित; कुरुन्—कुरुवंश के सदस्यों को; इति—इस प्रकार ।

भीष्म, द्रोण तथा विश्व भर के अन्य समस्त राजाओं के सामने भगवान् ने कहा कि हे पार्थ! यहाँ पर एकत्र सारे कुरुओं को देखो ।

तात्पर्य : समस्त जीवों के परमात्मास्वरूप भगवान् कृष्ण यह जानते थे कि अर्जुन के मन में क्या बीत रहा है । इस प्रसंग में हृषीकेश शब्द का प्रयोग सूचित करता है कि वे सब कुछ जानते थे । इसी प्रकार पार्थ शब्द अर्थात् पृथा या कुन्तीपुत्र भी अर्जुन के लिए प्रयुक्त होने के कारण महत्त्वपूर्ण है । मित्र के रूप में वे अर्जुन को बता देना चाहते थे कि चूँकि अर्जुन उनके पिता वसुदेव की बहन पृथा का पुत्र था इसीलिए उन्होंने अर्जुन का सारथी बनना स्वीकार किया था । किन्तु जब उन्होंने अर्जुन से “कुरुओं को देखो” कहा तो इससे उनका क्या अभिप्राय था? क्या अर्जुन वहीं पर रुक कर युद्ध करना नहीं चाहता था? कृष्ण को अपनी बुआ पृथा के पुत्र से कभी भी ऐसी आशा नहीं थी । इस प्रकार से कृष्ण ने अपने मित्र की मनःस्थिति की पूर्वसूचना परिहासवश दी है ।

**तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान ।**

**आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।**

**श्वशुरान्सुहृदश्चैव**

**सेनयोरुभयोरपि ॥ २६ ॥**

तत्र—वहाँ; अपश्यत्—देखा; स्थितान्—खड़े; पार्थः—पार्थ ने; पितृन्—पितरों (चाचा-ताऊ) को; अथ—भी; पितामहान्—पितामहों को; आचार्यान्—शिक्षकों को; मातुलान्—मामाओं को; भ्रातृन्—भाइयों को; पुत्रान्—पुत्रों को; पौत्रान्—पौत्रों को; सखीन्—मित्रों को; तथा—और; श्वशुरान्—श्वसुरों को; सुहृदः—शुभचिन्तकों को; च—भी; एव—निश्चय ही; सेनयोः—सेनाओं के; उभयोः—दोनों पक्षों की; अपि—सहित ।

अर्जुन ने वहाँ पर दोनों पक्षों की सेनाओं के मध्य में अपने चाचा-ताऊओं, पितामहों, गुरुओं, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों, ससुरों और शुभचिन्तकों को भी देखा ।

तात्पर्य : अर्जुन युद्धभूमि में अपने सभी सम्बंधियों को देख सका । वह अपने पिता के समकालीन भूरिश्रवा जैसे व्यक्तियों, भीष्म तथा सोमदत्त जैसे पितामहों, द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्य जैसे गुरुओं, शल्य तथा शकुनि जैसे मामाओं, दुर्योधन जैसे भाइयों, लक्ष्मण जैसे पुत्रों, अश्वत्थामा जैसे मित्रों एवं कृतवर्मा जैसे शुभचिन्तकों को देख सका । वह उन सेनाओं को भी देख सका जिनमें उसके अनेक मित्र थे ।

**तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।**

**कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥**



तान्—उन सब को; समीक्ष्य—देखकर; सः—वह; कौन्तेयः—कुन्तीपुत्र; सर्वान्—सभी प्रकार के; बन्धून्—सम्बन्धियों को; अवस्थितान्—स्थित; कृपया—दयावश; परया—अत्यधिक; आविष्टः—अभिभूत; विषीदन्—शोक करता हुआ; इदम्—इस प्रकार; अब्रवीत्—बोला।

जब कुन्तीपुत्र अर्जुन ने मित्रों तथा सम्बन्धियों की इन विभिन्न श्रेणियों को देखा तो वह करुणा से अभिभूत हो गया और इस प्रकार बोला।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति॥२८॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; दृष्ट्वा—देख कर; इमम्—इन सारे; स्वजनम्—सम्बन्धियों को; कृष्ण—हे कृष्ण; युयुत्सुम्—युद्ध की इच्छा रखने वाले; समुपस्थितम्—उपस्थित; सीदन्ति—काँप रहे हैं; मम—मेरे; गात्राणि—शरीर के अंग; मुखम्—मुँह; च—भी; परिशुष्यति—सूख रहा है।

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! इस प्रकार युद्ध की इच्छा रखने वाले अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों को अपने समक्ष उपस्थित देखकर मेरे शरीर के अंग काँप रहे हैं और मेरा मुँह सूखा जा रहा है।

तात्पर्य : यथार्थ भक्ति से युक्त मनुष्य में वे सारे सद्गुण रहते हैं जो सत्पुरुषों या देवताओं में पाये जाते हैं जबकि अभक्त अपनी शिक्षा तथा संस्कृति के द्वारा भौतिक योग्यताओं में चाहे कितना ही उन्नत क्यों न हो इन ईश्वरीय गुणों से विहीन होता है। अतः स्वजनों, मित्रों तथा सम्बन्धियों को युद्धभूमि में देखते ही अर्जुन उन सबों के लिए करुणा से अभिभूत हो गया, जिन्होंने परस्पर युद्ध करने का निश्चय किया था। जहाँ तक उसके अपने सैनिकों का सम्बन्ध था, वह उनके प्रति प्रारम्भ से दयालु था, किन्तु विपक्षी दल के सैनिकों की आसन्न मृत्यु को देखकर वह उन पर भी दया का अनुभव कर रहा था। और जब वह इस प्रकार सोच रहा था तो उसके अंगों में कंपन होने लगा और मुँह सूख गया। उन सबको युद्धाभिमुख देखकर उसे आश्चर्य भी हुआ। प्रायः सारा कुटुम्ब, अर्जुन के सगे सम्बन्धी उससे युद्ध करने आये थे। यद्यपि इसका उल्लेख नहीं है, किन्तु तो भी सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि न केवल उसके अंग काँप रहे थे और मुँह सूख रहा था अपितु वह दयावश रुदन भी कर रहा था। अर्जुन में ऐसे लक्षण किसी दुर्बलता के कारण नहीं अपितु हृदय की कोमलता के कारण थे जो भगवान् के शुद्ध भक्त का लक्षण है। अतः कहा गया है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

“जो भगवान् के प्रति अविचल भक्ति रखता है उसमें देवताओं के सद्गुण पाये जाते हैं। किन्तु जो भगवद्भक्त नहीं है उसके पास भौतिक योग्यताएँ ही रहती हैं जिनका कोई मूल्य नहीं होता। इसका कारण यह है कि वह मानसिक धरातल पर मँडराता रहता है और ज्वलन्त माया के द्वारा अवश्य ही आकृष्ट होता है।” (भागवत ५.१८.१२)



वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।  
गाण्डीवं संसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥ २९ ॥

वेपथुः—शरीर का कम्पन; च—भी; शरीरे—शरीर में; मे—मेरे; रोम-हर्षः—रोमांच; च—भी; जायते—उत्पन्न हो रहा है; गाण्डीवम्—अर्जुन का धनुष, गाण्डीव; संसते—छूट या सरक रहा है; हस्तात्—हाथ से; त्वक्—त्वचा; च—भी; एव—निश्चय ही; परिदह्यते—जल रही है।

मेरा सारा शरीर काँप रहा है, मेरे रोंगटे खड़े हो रहे हैं, मेरा गाण्डीव धनुष मेरे हाथ से सरक रहा है और मेरी त्वचा जल रही है।

तात्पर्य : शरीर में दो प्रकार का कम्पन होता है और रोंगटे भी दो प्रकार से खड़े होते हैं। ऐसा या तो आध्यात्मिक परमानन्द के समय या भौतिक परिस्थितियों में अत्यधिक भय उत्पन्न होने पर होता है। दिव्य साक्षात्कार में कोई भय नहीं होता। इस अवस्था में अर्जुन के जो लक्षण हैं वे भौतिक भय अर्थात् जीवन की हानि के कारण हैं। अन्य लक्षणों से भी यह स्पष्ट है; वह इतना अधीर हो गया कि उसका विख्यात धनुष गाण्डीव उसके हाथों से सरक रहा था और उसकी त्वचा में जलन उत्पन्न हो रही थी। ये सब लक्षण देहात्मबुद्धि से जन्य हैं।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।  
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥ ३० ॥

न—नहीं; च—भी; शक्नोमि—समर्थ हूँ; अवस्थातुम्—खड़े होने में; भ्रमति—भूलता हुआ; इव—सदृश; च—तथा; मे—मेरा; मनः—मन; निमित्तानि—कारण; च—भी; पश्यामि—देखता हूँ; विपरीतानि—बिल्कुल उलटा; केशव—हे केशी असुर के मारने वाले (कृष्ण)।

मैं यहाँ अब और अधिक खड़ा रहने में असमर्थ हूँ। मैं अपने को भूल रहा हूँ और मेरा सिर चकरा रहा है। हे कृष्ण! मुझे तो केवल अमंगल के कारण दिख रहे हैं।

तात्पर्य : अपने अधैर्य के कारण अर्जुन युद्धभूमि में खड़ा रहने में असमर्थ था और अपने मन की इस दुर्बलता के कारण उसे आत्मविस्मृति हो रही थी। भौतिक वस्तुओं के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण मनुष्य ऐसी मोहमयी स्थिति में पड़ जाता है। भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्—(भागवत ११.२.३७)—ऐसा भय तथा मानसिक असंतुलन उन व्यक्तियों में उत्पन्न होता है जो भौतिक परिस्थितियों से ग्रस्त होते हैं। अर्जुन को युद्धभूमि में केवल दुखदायी पराजय की प्रतीति हो रही थी—वह शत्रु पर विजय पाकर भी सुखी नहीं होगा। निमित्तानि विपरीतानि शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। जब मनुष्य को अपनी आशाओं में केवल निराशा दिखती है तो वह सोचता है “मैं यहाँ क्यों हूँ?” प्रत्येक प्राणी अपने में तथा अपने स्वार्थ में रुचि रखता है। किसी की भी परमात्मा में रुचि नहीं होती। कृष्ण की इच्छा से अर्जुन अपने स्वार्थ के प्रति अज्ञान दिखा रहा है। मनुष्य का वास्तविक स्वार्थ तो विष्णु या कृष्ण में निहित है। बद्धजीव इसे भूल जाता है इसीलिए उसे भौतिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। अर्जुन ने सोचा कि उसकी विजय केवल उसके शोक का कारण बन सकती है।



न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥ ३१ ॥

न—न तो; च—भी; श्रेयः—कल्याण; अनुपश्यामि—पहले से देख रहा हूँ; हत्वा—मार कर; स्वजनम्—अपने सम्बन्धियों को; आहवे—युद्ध में; न—न तो; काङ्क्षे—आकांक्षा करता हूँ; विजयम्—विजय; कृष्ण—हे कृष्ण; न—न तो; च—भी; राज्यम्—राज्य; सुखानि—उसका सुख; च—भी ।

हे कृष्ण! इस युद्ध में अपने ही स्वजनों का वध करने से न तो मुझे कोई अच्छाई दिखती है और न, मैं उससे किसी प्रकार की विजय, राज्य या सुख की इच्छा रखता हूँ ।

तात्पर्य : यह जाने बिना कि मनुष्य का स्वार्थ विष्णु (या कृष्ण) में है सारे बद्धजीव शारीरिक सम्बन्धों के प्रति यह सोच कर आकर्षित होते हैं कि वे ऐसी परिस्थितियों में प्रसन्न रहेंगे । ऐसी देहात्मबुद्धि के कारण वे भौतिक सुख के कारणों को भी भूल जाते हैं । अर्जुन तो क्षत्रिय का नैतिक धर्म भी भूल गया था । कहा जाता है कि दो प्रकार के मनुष्य परम शक्तिशाली तथा जाज्वल्यमान सूर्यमण्डल में प्रवेश करने के योग्य होते हैं । ये हैं— एक तो क्षत्रिय जो कृष्ण की आज्ञा से युद्ध में मरता है तथा दूसरा संन्यासी जो आध्यात्मिक अनुशीलन में लगा रहता है । अर्जुन अपने शत्रुओं को भी मारने से विमुख हो रहा है—अपने सम्बन्धियों की बात तो छोड़ दें । वह सोचता है कि स्वजनों को मारने से उसे जीवन में सुख नहीं मिल सकेगा, अतः वह लड़ने के लिए इच्छुक नहीं है, जिस प्रकार कि भूख न लगने पर कोई भोजन बनाने को तैयार नहीं होता । उसने तो वन जाने का निश्चय कर लिया है जहाँ वह एकांत में निराशापूर्ण जीवन काट सके । किन्तु क्षत्रिय होने के नाते उसे अपने जीवननिर्वाह के लिए राज्य चाहिए क्योंकि क्षत्रिय कोई अन्य कार्य नहीं कर सकता । किन्तु अर्जुन के पास राज्य कहाँ है? उसके लिए तो राज्य प्राप्त करने का एकमात्र अवसर है कि अपने बन्धु-बान्धवों से लड़कर अपने पिता के राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त करे जिसे वह करना नहीं चाह रहा है । इसीलिए वह अपने को जंगल में एकान्तवास करके निराशा का एकांत जीवन बिताने के योग्य समझता है ।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥ ३२ ॥

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥ ३३ ॥

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।

एतात्र हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ॥ ३४ ॥

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ॥ ३५ ॥



किम्—क्या लाभ; नः—हमको; राज्येन—राज्य से; गोविन्द—हे कृष्ण; किम्—क्या; भोगैः—भोग से; जीवितेन—जीवित रहने से; वा—अथवा; येषाम्—जिनके; अर्थे—लिए; काङ्क्षितम्—इच्छित है; नः—हमारे द्वारा; राज्यम्—राज्य; भोगाः—भौतिक भोग; सुखानि—समस्त सुख; च—भी; ते—वे; इमे—ये; अवस्थिताः—स्थित; युद्धे—युद्धभूमि में; प्राणान्—जीवन को; त्यक्त्वा—त्याग कर; धनानि—धन को; च—भी; आचार्याः—गुरुजन; पितरः—पितृगण; पुत्राः—पुत्रगण; तथा—और; एव—निश्चय ही; च—भी; पितामहाः—पितामह; मातुलाः—मामा लोग; श्वशुराः—श्वसुर; पौत्राः—पौत्र; श्यालाः—साले; सम्बन्धिनः—सम्बन्धी; तथा—तथा; एतान्—ये सब; न—कभी नहीं; हन्तुम्—मारना; इच्छामि—चाहता हूँ; घ्नतः—मारे जाने पर; अपि—भी; मधुसूदन—हे मधु असुर के मारने वाले (कृष्ण); अपि—तो भी; त्रै-लोक्य—तीनों लोकों के; राज्यस्य—राज्य के; हेतोः—विनिमय में; किम् नु—क्या कहा जाय; मही-कृते—पृथ्वी के लिए; निहत्य—मारकर; धार्तराष्ट्रान्—धृतराष्ट्र के पुत्रों को; नः—हमारी; का—क्या; प्रीतिः—प्रसन्नता; स्यात्—होगी; जनार्दन—हे जीवों के पालक।

हे गोविन्द! हमें राज्य, सुख अथवा इस जीवन से क्या लाभ! क्योंकि जिन सारे लोगों के लिए हम उन्हें चाहते हैं वे ही इस युद्धभूमि में खड़े हैं। हे मधुसूदन! जब गुरुजन, पितृगण, पुत्रगण, पितामह, मामा, ससुर, पौत्रगण, साले तथा अन्य सारे सम्बन्धी अपना अपना धन एवं प्राण देने के लिए तत्पर हैं और मेरे समक्ष खड़े हैं तो फिर मैं इन सबको क्यों मारना चाहूँगा, भले ही वे मुझे क्यों न मार डालें? हे जीवों के पालक! मैं इन सबों से लड़ने को तैयार नहीं, भले ही बदले में मुझे तीनों लोक क्यों न मिलते हों, इस पृथ्वी की तो बात ही छोड़ दें। भला धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें कौन सी प्रसन्नता मिलेगी?

तात्पर्य : अर्जुन ने भगवान् कृष्ण को गोविन्द कहकर सम्बोधित किया क्योंकि वे गौवों तथा इन्द्रियों की समस्त प्रसन्नता के विषय हैं। इस विशिष्ट शब्द का प्रयोग करके अर्जुन संकेत करता है कि कृष्ण यह समझें कि अर्जुन की इन्द्रियाँ कैसे तृप्त होंगी। किन्तु गोविन्द हमारी इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए नहीं हैं। हाँ, यदि हम गोविन्द की इन्द्रियों को तुष्ट करने का प्रयास करते हैं तो हमारी इन्द्रियाँ स्वतः तुष्ट होती हैं। भौतिक दृष्टि से, प्रत्येक व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है और चाहता है कि ईश्वर उसके आज्ञापालक की तरह काम करें। किन्तु ईश्वर उनकी तृप्ति वहीं तक करते हैं जितनी के वे पात्र होते हैं—उस हद तक नहीं जितना वे चाहते हैं। किन्तु जब कोई इसके विपरीत मार्ग ग्रहण करता है अर्थात् जब वह अपनी इन्द्रियों की तृप्ति की चिन्ता न करके गोविन्द की इन्द्रियों की तुष्ट करने का प्रयास करता है तो गोविन्द की कृपा से जीव की सारी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं। यहाँ पर जाति तथा कुटुम्बियों के प्रति अर्जुन का प्रगाढ़ स्नेह आंशिक रूप से इन सबके प्रति उसकी स्वाभाविक करुणा के कारण है। अतः वह युद्ध करने के लिए तैयार नहीं है। हर व्यक्ति अपने वैभव का प्रदर्शन अपने मित्रों तथा परिजनों के समक्ष करना चाहता है किन्तु अर्जुन को भय है कि उसके सारे मित्र तथा परिजन युद्धभूमि में मारे जायेंगे और वह विजय के पश्चात् उनके साथ अपने वैभव का उपयोग नहीं कर सकेगा। भौतिक जीवन का यह सामान्य लेखाजोखा है। किन्तु आध्यात्मिक जीवन इससे सर्वथा भिन्न होता है। चूँकि भक्त भगवान् की इच्छाओं की पूर्ति



करना चाहता है अतः भगवद्-इच्छा होने पर वह भगवान् की सेवा के लिए सारे ऐश्वर्य स्वीकार कर सकता है किन्तु यदि भगवद्-इच्छा न हो तो वह एक पैसा भी ग्रहण नहीं करता। अर्जुन अपने सम्बन्धियों को मारना नहीं चाह रहा था और यदि उनको मारने की आवश्यकता हो तो अर्जुन की इच्छा थी कि कृष्ण स्वयं उनका वध करें। इस समय उसे यह पता नहीं है कि कृष्ण उन सबों को युद्धभूमि में आने के पूर्व ही मार चुके हैं और अब उसे निमित्त मात्र बनना है। इसका उद्घाटन अगले अध्यायों में होगा। भगवान् का असली भक्त होने के कारण अर्जुन अपने अत्याचारी बन्धु-बान्धवों से प्रतिशोध नहीं लेना चाहता था किन्तु यह तो भगवान् की योजना थी कि सबका वध हो। भगवद्भक्त दुष्टों से प्रतिशोध नहीं लेना चाहते किन्तु भगवान् दुष्टों द्वारा भक्त के उत्पीड़न को सहन नहीं कर पाते। भगवान् किसी व्यक्ति को अपनी इच्छा से क्षमा कर सकते हैं किन्तु यदि कोई उनके भक्तों को हानि पहुँचाता है तो वे उसे क्षमा नहीं करते। इसीलिए भगवान् इन दुराचारियों का वध करने के लिए उद्यत थे यद्यपि अर्जुन उन्हें क्षमा करना चाहता था।

**पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।**

**तस्मान्नाहं वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्सबान्धवान् ।**

**स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३६ ॥**

पापम्—पाप; एव—निश्चय ही; आश्रयेत्—लगेगा; अस्मान्—हमको; हत्वा—मारकर; एतान्—इन सब; आततायिनः—आततायियों को; तस्मात्—अतः; न—कभी नहीं; अहं—योग्य; वयम्—हम; हन्तुम्—मारने के लिए; धार्तराष्ट्रान्—धृतराष्ट्र के पुत्रों को; स-बान्धवान्—उनके मित्रों सहित; स्व-जनम्—कुटुम्बियों को; हि—निश्चय ही; कथम्—कैसे; हत्वा—मारकर; सुखिनः—सुखी; स्याम—हम होंगे; माधव—हे लक्ष्मीपति कृष्ण।

यदि हम ऐसे आततायियों का वध करते हैं तो हम पर पाप चढ़ेगा, अतः यह उचित नहीं होगा कि हम धृतराष्ट्र के पुत्रों तथा उनके मित्रों का वध करें। हे लक्ष्मीपति कृष्ण! इससे हमें क्या लाभ होगा? और अपने ही कुटुम्बियों को मार कर हम किस प्रकार सुखी हो सकते हैं?

तात्पर्य : वैदिक आदेशानुसार आततायी छः प्रकार के होते हैं—(१) विष देने वाला, (२) घर में अग्नि लगाने वाला, (३) घातक हथियार से आक्रमण करने वाला, (४) धन लूटने वाला, (५) दूसरे की भूमि हड़पने वाला, तथा (६) पराई स्त्री का अपहरण करने वाला। ऐसे आततायियों का तुरन्त वध कर देना चाहिए क्योंकि इनके वध से कोई पाप नहीं लगता। आततायियों का इस तरह वध करना किसी सामान्य व्यक्ति को शोभा दे सकता है किन्तु अर्जुन कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है। वह स्वभाव से साधु है अतः वह उनके साथ साधुवत् व्यवहार करना चाहता था। किन्तु इस प्रकार का व्यवहार क्षत्रिय के लिए उपयुक्त नहीं है। यद्यपि राज्य के प्रशासन के लिए उत्तरदायी व्यक्ति को साधु प्रकृति का होना चाहिए किन्तु उसे कायर नहीं होना चाहिए। उदाहरणार्थ, भगवान् राम इतने साधु



थे कि आज भी लोग रामराज्य में रहना चाहते हैं किन्तु उन्होंने कभी कायरता प्रदर्शित नहीं की। रावण आततायी था क्योंकि वह राम की पत्नी सीता का अपहरण करके ले गया था किन्तु राम ने उसे ऐसा पाठ पढ़ाया जो विश्व-इतिहास में बेजोड़ है। अर्जुन के प्रसंग में विशिष्ट प्रकार के आततायियों से भेंट होती है—ये हैं उसके निजी पितामह, आचार्य, मित्र, पुत्र, पौत्र इत्यादि। इसलिए अर्जुन ने विचार किया कि उनके प्रति वह सामान्य आततायियों जैसा कटु व्यवहार न करे। इसके अतिरिक्त, साधु पुरुषों को तो क्षमा करने की सलाह दी जाती है। साधु पुरुषों के लिए ऐसे आदेश किसी राजनीतिक आपातकाल से अधिक महत्त्व रखते हैं। इसलिए अर्जुन ने विचार किया कि राजनीतिक कारणों से स्वजनों का वध करने की अपेक्षा धर्म तथा सदाचार की दृष्टि से उन्हें क्षमा कर देना श्रेयस्कर होगा। अतः क्षणिक शारीरिक सुख के लिए इस तरह वध करना लाभप्रद नहीं होगा। अन्ततः जब सारा राज्य तथा उससे प्राप्त सुख स्थायी नहीं हैं तो फिर अपने स्वजनों को मार कर वह अपने ही जीवन तथा शाश्वत मुक्ति को संकट में क्यों डाले? अर्जुन द्वारा 'कृष्ण' को 'माधव' अथवा 'लक्ष्मीपति' के रूप में सम्बोधित करना भी सार्थक है। वह लक्ष्मीपति कृष्ण को यह बताना चाह रहा था कि वे उसे ऐसा काम करने के लिए प्रेरित न करें, जिससे अनिष्ट हो। किन्तु कृष्ण कभी भी किसी का अनिष्ट नहीं चाहते, भक्तों का तो कदापि नहीं।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।

कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३७ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मात्रिवर्तितुम्।

कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३८ ॥

यदि—यदि; अपि—भी; एते—ये; न—नहीं; पश्यन्ति—देखते हैं; लोभ—लोभ से; उपहत—अभिभूत; चेतसः—चित्त वाले; कुल-क्षय—कुल-नाश; कृतम्—किया हुआ; दोषम्—दोष को; मित्र-द्रोहे—मित्रों से विरोध करने में; च—भी; पातकम्—पाप को; कथम्—क्यों; न—नहीं; ज्ञेयम्—जानना चाहिए; अस्माभिः—हमारे द्वारा; पापात्—पापों से; अस्मात्—इन; निवर्तितुम्—बन्द करने के लिए; कुल-क्षय—वंश का नाश; कृतम्—हो जाने पर; दोषम्—अपराध; प्रपश्यद्भिः—देखने वालों के द्वारा; जनार्दन—हे कृष्ण!

हे जनार्दन! यद्यपि लोभ से अभिभूत चित्त वाले ये लोग अपने परिवार को मारने या अपने मित्रों से द्रोह करने में कोई दोष नहीं देखते किन्तु हम लोग, जो परिवार के विनष्ट करने में अपराध देख सकते हैं, ऐसे पापकर्मों में क्यों प्रवृत्त हों?

तात्पर्य : क्षत्रिय से यह आशा नहीं की जाती कि वह अपने विपक्षी दल द्वारा युद्ध करने या जुआ खेलने का आमन्त्रण दिये जाने पर मना करे। ऐसी अनिवार्यता में अर्जुन लड़ने से नकार नहीं सकता क्योंकि उसको दुर्योधन के दल ने ललकारा था। इस प्रसंग में अर्जुन ने विचार किया कि हो सकता है कि दूसरा पक्ष इस ललकार के परिणामों के प्रति अनभिज्ञ हो। किन्तु अर्जुन को तो दुष्परिणाम दिखाई पड़ रहे थे अतः वह इस ललकार को स्वीकार नहीं कर सकता। यदि परिणाम अच्छा हो तो कर्तव्य वस्तुतः



पालनीय है किन्तु यदि परिणाम विपरीत हो तो हम उसके लिए बाध्य नहीं होते। इन पक्ष-विपक्षों पर विचार करके अर्जुन ने युद्ध न करने का निश्चय किया।

**कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।**

**धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ३९ ॥**

कुल-क्षये—कुल का नाश होने पर; प्रणश्यन्ति—विनष्ट हो जाती हैं; कुल-धर्माः—पारिवारिक परम्पराएँ; सनातनाः—शाश्वत; धर्मे—धर्म; नष्टे—नष्ट होने पर; कुलम्—कुल को; कृत्स्नम्—सम्पूर्ण; अधर्मः—अधर्म; अभिभवति—बदल देता है; उत—कहा जाता है।

कुल का नाश होने पर सनातन कुल-परम्परा नष्ट हो जाती है और इस तरह शेष कुल भी अधर्म में प्रवृत्त हो जाता है।

तात्पर्य : वर्णाश्रम व्यवस्था में धार्मिक परम्पराओं के अनेक नियम हैं जिनकी सहायता से परिवार के सदस्य ठीक से उन्नति करके आध्यात्मिक मूल्यों की उपलब्धि कर सकते हैं। परिवार में जन्म से लेकर मृत्यु तक के सारे संस्कारों के लिए वयोवृद्ध लोग उत्तरदायी होते हैं। किन्तु इन वयोवृद्धों की मृत्यु के पश्चात् संस्कार सम्बन्धी पारिवारिक परम्पराएँ रुक जाती हैं और परिवार के जो तरुण सदस्य बचे रहते हैं वे अधर्ममय व्यसनों में प्रवृत्त होने से मुक्ति-लाभ से वंचित रह सकते हैं। अतः किसी भी कारणवश परिवार के वयोवृद्धों का वध नहीं होना चाहिए।

**अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।**

**स्त्रीषु दुष्टासु वाष्ण्य जायते वर्णसङ्करः ॥ ४० ॥**

अधर्म—अधर्म; अभिभवात्—प्रमुख होने से; कृष्ण—हे कृष्ण; प्रदुष्यन्ति—दूषित हो जाती हैं; कुल-स्त्रियः—कुल की स्त्रियाँ; स्त्रीषु—स्त्रीत्व के; दुष्टासु—दूषित होने से; वाष्ण्य—हे वृष्णिवंशी; जायते—उत्पन्न होती है; वर्ण-सङ्करः—अवांछित सन्तान।

हे कृष्ण! जब कुल में अधर्म प्रमुख हो जाता है तो कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और स्त्रीत्व के पतन से हे वृष्णिवंशी! अवांछित सन्तानें उत्पन्न होती हैं।

तात्पर्य : जीवन में शान्ति, सुख तथा आध्यात्मिक उन्नति का मुख्य सिद्धान्त मानव समाज में अच्छी सन्तान का होना है। वर्णाश्रम धर्म के नियम इस प्रकार बनाये गये थे कि राज्य तथा जाति की आध्यात्मिक उन्नति के लिए समाज में अच्छी सन्तान उत्पन्न हो। ऐसी सन्तान समाज में स्त्री के सतीत्व और उसकी निष्ठा पर निर्भर करती है। जिस प्रकार बालक सरलता से कुमार्गगामी बन जाते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी पतनोन्मुखी होती हैं। अतः बालकों तथा स्त्रियों दोनों को ही समाज के वयोवृद्धों का संरक्षण आवश्यक है। स्त्रियाँ विभिन्न धार्मिक प्रथाओं में संलग्न रहने पर व्यभिचारिणी नहीं होंगी। चाणक्य पंडित के अनुसार सामान्यतया स्त्रियाँ अधिक बुद्धिमान नहीं होतीं अतः वे विश्वसनीय नहीं हैं। इसलिए उन्हें विविध कुल-परम्पराओं में व्यस्त रहना चाहिए और इस तरह उनके सतीत्व तथा अनुरक्ति से ऐसी सन्तान जन्मेगी जो वर्णाश्रम धर्म में भाग लेने के योग्य होगी। ऐसे वर्णाश्रम-धर्म के विनाश से यह स्वाभाविक है कि स्त्रियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक



पुरुषों से मिल सकेंगी और व्यभिचार को प्रश्रय मिलेगा जिससे अवांछित सन्तानें उत्पन्न होंगी। निठल्ले लोग भी समाज में व्यभिचार को प्रेरित करते हैं और इस तरह अवांछित बच्चों की बाढ़ आ जाती है जिससे मानव जाति पर युद्ध और महामारी का संकट छा जाता है।

**सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।**

**पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४१ ॥**

सङ्करः—ऐसे अवांछित बच्चे; नरकाय—नारकीय जीवन के लिए; एव—निश्चय ही; कुल-घ्नानाम्—कुल का वध करने वालों के; कुलस्य—कुल के; च—भी; पतन्ति—गिर जाते हैं; पितरः—पितृगण; हि—निश्चय ही; एषाम्—इनके; लुप्त—समाप्त; पिण्ड—पिण्ड अर्पण की; उदक—तथा जल की; क्रियाः—क्रिया, कृत्य।

अवांछित सन्तानों की वृद्धि से निश्चय ही परिवार के लिए तथा पारिवारिक परम्परा को विनष्ट करने वालों के लिए नारकीय जीवन उत्पन्न होता है। ऐसे पतित कुलों के पुरखे (पितर लोग) गिर जाते हैं क्योंकि उन्हें जल तथा पिण्ड दान देने की क्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं।

तात्पर्य : सकाम कर्म के विधिविधानों के अनुसार कुल के पितरों को समय-समय पर जल तथा पिण्डदान दिया जाना चाहिए। यह दान विष्णु पूजा द्वारा किया जाता है क्योंकि विष्णु को अर्पित भोजन के उच्छिष्ट भाग (प्रसाद) के खाने से सारे पापकर्मों से उद्धार हो जाता है। कभी-कभी पितरगण विविध प्रकार के पापकर्मों से ग्रस्त हो सकते हैं और कभी-कभी उनमें से कुछ को स्थूल शरीर प्राप्त न हो सकने के कारण उन्हें प्रेतों के रूप में सूक्ष्म शरीर धारण करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। अतः जब वंशजों द्वारा पितरों को बचा प्रसाद अर्पित किया जाता है तो उनका प्रेतयोनि या अन्य प्रकार के दुःखमय जीवन से उद्धार होता है। पितरों को इस तरह की सहायता पहुँचाना कुल-परम्परा है और जो लोग भक्ति का जीवन-यापन नहीं करते उन्हें ये अनुष्ठान करने होते हैं। केवल भक्ति करने से मनुष्य सैकड़ों क्या हजारों पितरों को ऐसे संकटों से उबार सकता है। भागवत में (११.५.४१) कहा गया है—

देवर्षि भूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥

“जो पुरुष अन्य समस्त कर्तव्यों को त्याग कर मुक्ति के दाता मुकुन्द के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है और इस पथ पर गम्भीरतापूर्वक चलता है वह देवताओं, मुनियों, सामान्य जीवों, स्वजनों, मनुष्यों या पितरों के प्रति अपने कर्तव्य या ऋण से मुक्त हो जाता है।” श्रीभगवान् की सेवा करने से ऐसे दायित्व अपने आप पूरे हो जाते हैं।

**दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।**

**उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४२ ॥**



दोषैः—ऐसे दोषों से; एतैः—इन सब; कुलघ्नानाम्—परिवार नष्ट करने वालों का; वर्ण-सङ्कर—अवांछित संतानों के; कारकैः—कारणों से; उत्साद्यन्ते—नष्ट हो जाते हैं; जाति-धर्माः—सामुदायिक योजनाएँ; कुल-धर्माः—पारिवारिक परम्पराएँ; च—भी; शाश्वताः—सनातन।

जो लोग कुल-परम्परा को विनष्ट करते हैं और इस तरह अवांछित सन्तानों को जन्म देते हैं उनके दुष्कर्मों से समस्त प्रकार की सामुदायिक योजनाएँ तथा पारिवारिक कल्याण-कार्य विनष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : सनातन-धर्म या वर्णाश्रम-धर्म द्वारा निर्धारित मानव समाज के चारों वर्णों के लिए सामुदायिक योजनाएँ तथा पारिवारिक कल्याण-कार्य इसलिए नियोजित हैं कि मनुष्य चरम मोक्ष प्राप्त कर सके। अतः समाज के अनुत्तरदायी नायकों द्वारा सनातन-धर्म परम्परा के विखण्डन से उस समाज में अव्यवस्था फैलती है, फलस्वरूप लोग जीवन के उद्देश्य विष्णु को भूल जाते हैं। ऐसे नायक अंधे कहलाते हैं और जो लोग इनका अनुगमन करते हैं वे निश्चय ही कुव्यवस्था की ओर अग्रसर होते हैं।

**उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।**

**नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम् ॥ ४३ ॥**

उत्सन्न—विनष्ट; कुल-धर्माणाम्—पारिवारिक परम्परा वाले; मनुष्याणाम्—मनुष्यों का; जनार्दन—हे कृष्ण; नरके—नरक में; नियतम्—सदैव; वासः—निवास; भवति—होता है; इति—इस प्रकार; अनुशुश्रुम्—गुरु-परम्परा से मैंने सुना है।

हे प्रजापालक कृष्ण! मैंने गुरु-परम्परा से सुना है कि जो लोग कुल-धर्म का विनाश करते हैं, वे सदैव नरक में वास करते हैं।

तात्पर्य : अर्जुन अपने तर्कों को अपने निजी अनुभव पर न आधारित करके आचार्यों से जो सुन रखा है उस पर आधारित करता है। वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने की यही विधि है। जिस व्यक्ति ने पहले से ज्ञान प्राप्त कर रखा है उस व्यक्ति की सहायता के बिना कोई भी वास्तविक ज्ञान तक नहीं पहुँच सकता। वर्णाश्रम-धर्म की एक पद्धति के अनुसार मृत्यु के पूर्व मनुष्य को पापकर्मों के लिए प्रायश्चित्त करना होता है। जो पापात्मा है उसे इस विधि का अवश्य उपयोग करना चाहिए। ऐसा किये बिना मनुष्य निश्चित रूप से नरक भेजा जायेगा जहाँ उसे अपने पापकर्मों के लिए कष्टमय जीवन बिताना होगा।

**अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।**

**यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४४ ॥**

अहो—ओह; बत—कितना आश्चर्य है यह; महत्—महान; पापम्—पाप कर्म; कर्तुम्—करने के लिए; व्यवसिता—निश्चय किया है; वयम्—हमने; यत्—क्योंकि; राज्य-सुख-लोभेन—राज्य-सुख के लालच में आकर; हन्तुम्—मारने के लिए; स्वजनम्—अपने सम्बन्धियों को; उद्यताः—तत्पर।

ओह! कितने आश्चर्य की बात है कि हम सब जघन्य पापकर्म करने के लिए उद्यत हो रहे हैं। राज्यसुख भोगने की इच्छा से प्रेरित होकर हम अपने ही सम्बन्धियों को



मारने पर तुले हैं।

तात्पर्य : स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य अपने सगे भाई, बाप या माँ के वध जैसे पापकर्मों में प्रवृत्त हो सकता है। विश्व के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। किन्तु भगवान् का साधु भक्त होने के कारण अर्जुन सदाचार के प्रति जागरुक है। अतः वह ऐसे कार्यों से बचने का प्रयत्न करता है।

**यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।**

**धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ ४५ ॥**

यदि—यदि; माम्—मुझको; अप्रतीकारम्—प्रतिरोध न करने के कारण; अशस्त्रम्—बिना हथियार के; शस्त्र-पाणयः—शस्त्रधारी; धार्तराष्ट्राः—धृतराष्ट्र के पुत्र; रणे—युद्धभूमि में; हन्युः—मारें; तत्—वह; मे—मेरे लिए; क्षेम-तरम्—श्रेयस्कर; भवेत्—होगा।

यदि शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र मुझ निहत्थे तथा रणभूमि में प्रतिरोध न करने वाले को मारें, तो यह मेरे लिए श्रेयस्कर होगा।

तात्पर्य : क्षत्रियों के युद्ध-नियमों के अनुसार ऐसी प्रथा है कि निहत्थे तथा विमुख शत्रु पर आक्रमण न किया जाय। किन्तु अर्जुन ने निश्चय किया कि शत्रु भले ही इस विषम अवस्था में उस पर आक्रमण कर दें, किन्तु वह युद्ध नहीं करेगा। उसने इस पर विचार नहीं किया कि दूसरा दल युद्ध के लिए कितना उद्यत है। इन सब लक्षणों का कारण उसकी दयार्द्रता है जो भगवान् के महान भक्त होने के कारण उत्पन्न हुई।

सञ्जय उवाच

**एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।**

**विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्रमानसः॥ ४६ ॥**

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; अर्जुनः—अर्जुन; संख्ये—युद्धभूमि में; रथ—रथ के; उपस्थे—आसन पर; उपाविशत्—पुनः बैठ गया; विसृज्य—एक ओर रखकर; स-शरम्—बाणों सहित; चापम्—धनुष को; शोक-शोक से; संविग्र—संतप्त, उद्विग्न; मानसः—मन के भीतर।

संजय ने कहा—युद्धभूमि में इस प्रकार कह कर अर्जुन ने अपना धनुष तथा बाण एक ओर रख दिया और शोकसंतप्त चित्त से रथ के आसन पर बैठ गया।

तात्पर्य : अपने शत्रु की स्थिति का अवलोकन करते समय अर्जुन रथ पर खड़ा हो गया था, किन्तु वह शोक से इतना संतप्त हो उठा कि अपना धनुष-बाण एक ओर रख कर रथ के आसन पर पुनः बैठ गया। ऐसा दयालु तथा कोमलहृदय व्यक्ति, जो भगवान् की सेवा में रत हो, आत्मज्ञान प्राप्त करने के योग्य है।

इस प्रकार भगवद्गीता के प्रथम अध्याय “कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में सैन्यनिरीक्षण” का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।



## अध्याय दो



## गीता का सार

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।

विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

संज्ञयः उवाच—संजय ने कहा; तम्—अर्जुन के प्रति; तथा—इस प्रकार; कृपया—करुणा से; आविष्टम्—अभिभूत; अश्रु-पूर्ण-आकुल—अश्रुओं से पूर्ण; ईक्षणम्—नेत्र; विषीदन्तम्—शोकयुक्त; इदम्—यह; वाक्यम्—वचन; उवाच—कहा; मधु-सूदनः—मधु का वध करने वाले (कृष्ण) ने।

संजय ने कहा—करुणा से व्याप्त, शोकयुक्त, अश्रुपूरित नेत्रों वाले अर्जुन को देख कर मधुसूदन कृष्ण ने ये शब्द कहे।

तात्पर्य : भौतिक पदार्थों के प्रति करुणा, शोक तथा अश्रु—ये सब असली आत्मा को न जानने के लक्षण हैं। शाश्वत आत्मा के प्रति करुणा ही आत्म-साक्षात्कार है। इस श्लोक में मधुसूदन शब्द महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण ने मधु नामक असुर का वध किया था और अब अर्जुन चाह रहा है कि कृष्ण उस अज्ञान रूपी असुर का वध करें जिसने उसे कर्तव्य से विमुख कर रखा है। यह कोई नहीं जानता कि करुणा का प्रयोग कहाँ होना चाहिए। डूबते हुए मनुष्य के वस्त्रों के लिए करुणा मूर्खता होगी। अज्ञान-सागर में गिरे हुए



मनुष्य को केवल उसके बाहरी पहनावे अर्थात् स्थूल शरीर की रक्षा करके नहीं बचाया जा सकता। जो इसे नहीं जानता और बाहरी पहनावे के लिए शोक करता है, वह शूद्र कहलाता है अर्थात् वह वृथा ही शोक करता है। अर्जुन तो क्षत्रिय था, अतः उससे ऐसे आचरण की आशा न थी। किन्तु भगवान् कृष्ण अज्ञानी पुरुष के शोक को विनष्ट कर सकते हैं और इसी उद्देश्य से उन्होंने भगवद्गीता का उपदेश दिया। यह अध्याय हमें भौतिक शरीर तथा आत्मा के वैश्लेषिक अध्ययन द्वारा आत्म-साक्षात्कार का उपदेश देता है, जिसकी व्याख्या परम अधिकारी भगवान् कृष्ण द्वारा की गई है। यह साक्षात्कार तभी सम्भव है जब मनुष्य निष्काम भाव से कर्म करे और आत्म-बोध को प्राप्त हो।

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन

॥२॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; कुतः—कहाँ से; त्वा—तुमको; कश्मलम्—गंदगी, अज्ञान; इदम्—यह शोक; विषमे—इस विषम अवसर पर; समुपस्थितम्—प्राप्त हुआ; अनार्य—वे लोग जो जीवन के मूल्य को नहीं समझते; जुष्टम्—आचरित; अस्वर्ग्यम्—उच्च लोकों को जो न ले जाने वाला; अकीर्ति—अपयश का; करम्—कारण; अर्जुन—हे अर्जुन।

श्रीभगवान् ने कहा—हे अर्जुन! तुम्हारे मन में यह कल्मष आया कैसे? यह उस मनुष्य के लिए तनिक भी अनुकूल नहीं है, जो जीवन के मूल्य को जानता हो। इससे उच्चलोक की नहीं अपितु अपयश की प्राप्ति होती है।

सात्पर्य : श्रीकृष्ण तथा भगवान् अभिन्न हैं, इसीलिए श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण गीता में भगवान् ही कहा गया है। भगवान् परम सत्य की पराकाष्ठा हैं। परम सत्य का बोध ज्ञान की तीन अवस्थाओं में होता है—ब्रह्म या निर्विशेष सर्वव्यापी चेतना, परमात्मा या भगवान् का अन्तर्यामी रूप जो समस्त जीवों के हृदय में है तथा भगवान् या श्रीभगवान् कृष्ण। श्रीमद्भागवत में (१.२.११) परम सत्य की यह धारणा इस प्रकार बताई गई है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दते॥

“परम सत्य का ज्ञाता परम सत्य का अनुभव ज्ञान की तीन अवस्थाओं में करता है, और ये सब अवस्थाएँ एकरूप हैं। ये ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के रूप में व्यक्त की जाती हैं।”

इन तीन दिव्य पक्षों को सूर्य के दृष्टान्त द्वारा समझाया जा सकता है क्योंकि उसके भी तीन भिन्न-भिन्न पक्ष होते हैं—यथा, धूप(प्रकाश), सूर्य की सतह तथा सूर्यलोक स्वयं। जो सूर्य के प्रकाश का अध्ययन करता है वह नौसिखिया है। जो सूर्य की सतह को समझता है वह कुछ आगे बढ़ा हुआ होता है और जो सूर्यलोक में प्रवेश कर सकता है वह उच्चतम ज्ञानी है। जो नौसिखिया सूर्य प्रकाश—उसकी विश्व व्याप्ति तथा उसकी निर्विशेष प्रकृति के अखण्ड तेज—के ज्ञान से ही तुष्ट हो जाता है वह उस व्यक्ति के समान है जो परम सत्य के ब्रह्म रूप को ही समझ सकता है। जो व्यक्ति कुछ अधिक



जानकार है वह सूर्य गोले के विषय में जान सकता है जिसकी तुलना परम सत्य के परमात्मा स्वरूप से की जाती है। जो व्यक्ति सूर्यलोक के अन्तर में प्रवेश कर सकता है उसकी तुलना उससे की जाती है जो परम सत्य के साक्षात् रूप की अनुभूति प्राप्त करता है। अतः जिन भक्तों ने परम सत्य के भगवान् स्वरूप का साक्षात्कार किया है वे सर्वोच्च अध्यात्मवादी हैं, यद्यपि परम सत्य के अध्ययन में रत सारे विद्यार्थी एक ही विषय के अध्ययन में लगे हुए हैं। सूर्य का प्रकाश, सूर्य का गोला तथा सूर्यलोक की भीतरी बातें—इन तीनों को एक दूसरे से विलग नहीं किया जा सकता, फिर भी तीनों अवस्थाओं के अध्येता एक ही श्रेणी के नहीं होते।

संस्कृत शब्द भगवान् की व्याख्या व्यासदेव के पिता पराशर मुनि ने की है। समस्त धन, शक्ति, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा त्याग से युक्त परम पुरुष भगवान् कहलाता है। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो अत्यन्त धनी हैं, अत्यन्त शक्तिमान हैं, अत्यन्त सुन्दर हैं और अत्यन्त विख्यात, विद्वान् तथा विरक्त भी हैं, किन्तु कोई साधिकार यह नहीं कह सकता कि उसके पास सारा धन, शक्ति आदि है। एकमात्र कृष्ण ही ऐसा दावा कर सकते हैं क्योंकि वे भगवान् हैं। ब्रह्मा, शिव या नारायण सहित कोई भी जीव कृष्ण के समान पूर्ण ऐश्वर्यवान् नहीं है। अतः ब्रह्मसंहिता में स्वयं ब्रह्माजी का निर्णय है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। न तो कोई उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है। वे आदि स्वामी या भगवान् हैं, गोविन्द रूप में जाने जाते हैं और समस्त कारणों के परम कारण हैं—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

“ऐसे अनेक पुरुष हैं जो भगवान् के गुणों से युक्त हैं, किन्तु कृष्ण परम हैं क्योंकि उनसे बढ़कर कोई नहीं है। वे परमपुरुष हैं और उनका शरीर सच्चिदानन्दमय है। वे आदि भगवान् गोविन्द हैं और समस्त कारणों के कारण हैं।” (ब्रह्मसंहिता ५.९)

भागवत में भी भगवान् के नाना अवतारों की सूची है, किन्तु कृष्ण को आदि भगवान् बताया गया है, जिनसे अनेकानेक अवतार तथा ईश्वर विस्तार करते हैं—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णास्तु भगवान् स्वयम्।

इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥

“यहाँ पर वर्णित सारे अवतारों की सूचियाँ या तो भगवान् की अंशकलाओं अथवा पूर्ण कलाओं की हैं, किन्तु कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं।” (भागवत् १.३.२८)

अतः कृष्ण आदि भगवान्, परम सत्य, परमात्मा तथा निर्विशेष ब्रह्म दोनों के उद्गम हैं।

भगवान् की उपस्थिति में अर्जुन द्वारा स्वजनों के लिए शोक करना सर्वथा अशोभनीय है, अतः कृष्ण ने कुतः शब्द से अपना आश्चर्य व्यक्त किया है। आर्य जैसी सभ्य जाति के किसी व्यक्ति से ऐसी मलिनता की उम्मीद नहीं की जाती। आर्य शब्द उन व्यक्तियों पर लागू होता है जो जीवन के मूल्य को जानते हैं और जिनकी सभ्यता आत्म-साक्षात्कार पर निर्भर करती है। देहात्मबुद्धि से प्रेरित मनुष्यों को यह ज्ञान नहीं रहता कि जीवन का उद्देश्य परम सत्य, विष्णु या भगवान् का साक्षात्कार है। वे तो भौतिक जगत के बाह्य स्वरूप से मोहित हो जाते हैं, अतः वे यह नहीं समझ पाते कि मुक्ति क्या



है। जिन पुरुषों को भौतिक बन्धन से मुक्ति का कोई ज्ञान नहीं होता वे अनार्य कहलाते हैं। यद्यपि अर्जुन क्षत्रिय था, किन्तु युद्ध से विचलित होकर वह अपने कर्तव्य से च्युत हो रहा था। उसकी यह कायरता अनार्यों के लिए ही शोभा देने वाली हो सकती है। कर्तव्य-पथ से इस प्रकार का विचलन न तो आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने में सहायक बनता है न ही इससे इस संसार में ख्याति प्राप्त की जा सकती है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन द्वारा अपने स्वजनों पर इस प्रकार की करुणा का अनुमोदन नहीं किया।

**क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।**

**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ ३॥**

क्लैब्यम्—नपुंसकता; मा स्म—मत; गमः—प्राप्त हो; पार्थ—हे पृथापुत्र; न—कभी नहीं; एतत्—यह; त्वयि—तुमको; उपपद्यते—शोभा देता है; क्षुद्रम्—तुच्छ; हृदय—हृदय की; दौर्बल्यम्—दुर्बलता; त्यक्त्वा—त्याग कर; उत्तिष्ठ—खड़ा हो; परम्—तप—हे शत्रुओं का दमन करने वाले।

हे पृथापुत्र! इस हीन नपुंसकता को प्राप्त मत होओ। यह तुम्हें शोभा नहीं देती। हे शत्रुओं के दमनकर्ता! हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़े होओ। तात्पर्य : अर्जुन को पृथापुत्र के रूप में सम्बोधित किया गया है। पृथा कृष्ण के पिता वसुदेव की बहन थीं, अतः कृष्ण के साथ अर्जुन का रक्त-सम्बन्ध था। यदि क्षत्रिय-पुत्र लड़ने से मना करता है तो वह नाम का क्षत्रिय है और यदि ब्राह्मण पुत्र अपवित्र कार्य करता है तो वह नाम का ब्राह्मण है। ऐसे क्षत्रिय तथा ब्राह्मण अपने पिता के अयोग्य पुत्र होते हैं, अतः कृष्ण यह नहीं चाहते थे कि अर्जुन अयोग्य क्षत्रिय पुत्र कहलाए। अर्जुन कृष्ण का घनिष्ठतम मित्र था और कृष्ण प्रत्यक्ष रूप से उसके रथ का संचालन कर रहे थे, किन्तु इन सब गुणों के होते हुए भी यदि अर्जुन युद्धभूमि को छोड़ता है तो वह अत्यन्त निन्दनीय कार्य करेगा। अतः कृष्ण ने कहा कि ऐसी प्रवृत्ति अर्जुन के व्यक्तित्व को शोभा नहीं देती। अर्जुन यह तर्क कर सकता था कि वह परम पूज्य भीष्म तथा स्वजनों के प्रति उदार दृष्टिकोण के कारण युद्धभूमि छोड़ रहा है, किन्तु कृष्ण ऐसी उदारता को केवल हृदय दौर्बल्य मानते हैं। ऐसी झूठी उदारता का अनुमोदन एक भी शास्त्र नहीं करता। अतः अर्जुन जैसे व्यक्ति को कृष्ण के प्रत्यक्ष निर्देशन में ऐसी उदारता या तथाकथित अहिंसा का परित्याग कर देना चाहिए।

अर्जुन उवाच

**कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।**

**इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥**

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; कथम्—किस प्रकार; भीष्मम्—भीष्म को; अहम्—मैं; संख्ये—युद्ध में; द्रोणम्—द्रोण को; च—भी; मधुसूदन—हे मधु के संहारकर्ता; इषुभिः—तीरों से; प्रतियोत्स्यामि—उलट कर प्रहार करूँगा; पूजा-अर्हो—पूजनीय; अरि-सूदन—हे शत्रुओं के संहारक!

अर्जुन ने कहा—हे शत्रुहन्ता! हे मधुसूदन! मैं युद्धभूमि में किस तरह भीष्म तथा द्रोण जैसे पूजनीय व्यक्तियों पर उलट कर बाण चलाऊँगा?



तात्पर्य : भीष्म पितामह तथा द्रोणाचार्य जैसे सम्माननीय व्यक्ति सदैव पूजनीय हैं। यदि वे आक्रमण भी करें तो उन पर उलट कर आक्रमण नहीं करना चाहिए। यह सामान्य शिष्टाचार है कि गुरुजनों से वाग्युद्ध भी न किया जाय। यहाँ तक कि यदि कभी वे रुक्ष व्यवहार करें तो भी उनके साथ रुक्ष व्यवहार न किया जाय। तो फिर भला अर्जुन उन पर बाण कैसे छोड़ सकता था? क्या कृष्ण कभी अपने पितामह, नाना उग्रसेन या अपने आचार्य सान्दीपनि मुनि पर हाथ चला सकते थे? अर्जुन ने कृष्ण के समक्ष ये ही कुछ तर्क प्रस्तुत किये।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्  
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।  
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव  
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

गुरून्—गुरुजनों को; अहत्वा—न मार कर; हि—निश्चय ही; महा-अनुभावान्—महापुरुषों को; श्रेयः—अच्छा है; भोक्तुम्—भोगना; भैक्ष्यम्—भीख माँगकर; अपि—भी; इह—इस जीवन में; लोके—इस संसार में; हत्वा—मारकर; अर्थ—लाभ की; कामान्—इच्छा से; तु—लेकिन; गुरून्—गुरुजनों को; इह—इस संसार में; एव—निश्चय ही; भुञ्जीय—भोगने के लिए बाध्य; भोगान्—भोग्य वस्तुएँ; रुधिर—रक्त से; प्रदिग्धान्—सनी हुई, रंजित।

ऐसे महापुरुषों को जो मेरे गुरु हैं, उन्हें मार कर जीने की अपेक्षा इस संसार में भीख माँग कर खाना अच्छा है। भले ही वे सांसारिक लाभ के इच्छुक हों, किन्तु हैं तो गुरुजन ही! यदि उनका वध होता है तो हमारे द्वारा भोग्य प्रत्येक वस्तु उनके रक्त से सनी होगी।

तात्पर्य : शास्त्रों के अनुसार ऐसा गुरु जो निंद्य कर्म में रत हो और जो विवेकशून्य हो, त्याज्य है। दुर्योधन से आर्थिक सहायता लेने के कारण भीष्म तथा द्रोण उसका पक्ष लेने के लिए बाध्य थे, यद्यपि केवल आर्थिक लाभ से ऐसा करना उनके लिए उचित न था। ऐसी दशा में वे आचार्यों का सम्मान खो बैठे थे। किन्तु अर्जुन सोचता है कि इतने पर भी वे उसके गुरुजन हैं, अतः उनका वध करके भौतिक लाभों का भोग करने का अर्थ होगा—रक्त से सने अवशेषों का भोग।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो  
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।  
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-  
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

न—नहीं; च—भी; एतत्—यह; विद्मः—हम जानते हैं; कतरत्—जो; नः—हमारे लिए; गरीयः—श्रेष्ठ; यत् वा—अथवा; जयेम—हम जीत जाएँ; यदि—यदि; वा—या; नः—हमको; जयेयुः—वे जीतें;



यान्—जिनको; एव—निश्चय ही; हत्वा—मारकर; न—कभी नहीं; जिजीविषामः—हम जीना चाहेंगे; ते—वे सब; अवस्थिताः—खड़े हैं; प्रमुखे—सामने; धार्तराष्ट्राः—धृतराष्ट्र के पुत्र।

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए क्या श्रेष्ठ है—उनको जीतना या उनके द्वारा जीते जाना। यदि हम धृतराष्ट्र के पुत्रों का वध कर देते हैं तो हमें जीवित रहने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी वे युद्धभूमि में हमारे समक्ष खड़े हैं।

तात्पर्य : अर्जुन की समझ में यह नहीं आ रहा था कि वह क्या करे—युद्ध करे और अनावश्यक रक्तपात का कारण बने, यद्यपि क्षत्रिय होने के नाते युद्ध करना उसका धर्म है; या फिर वह युद्ध से विमुख हो कर भीख माँग कर जीवन-यापन करे। यदि वह शत्रु को जीतता नहीं तो जीविका का एकमात्र साधन भिक्षा ही रह जाता है। फिर जीत भी तो निश्चित नहीं है क्योंकि कोई भी पक्ष विजयी हो सकता है। यदि उसकी विजय हो भी जाय (क्योंकि उसका पक्ष न्याय पर है), तो भी यदि धृतराष्ट्र के पुत्र मरते हैं, तो उनके बिना रह पाना अत्यन्त कठिन हो जायेगा। उस दशा में यह उसकी दूसरे प्रकार की हार होगी। अर्जुन द्वारा व्यक्त इस प्रकार के ये विचार सिद्ध करते हैं कि वह न केवल भगवान् का महान भक्त था, अपितु वह अत्यधिक प्रबुद्ध और अपने मन तथा इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखने वाला था। राज परिवार में जन्म लेकर भी भिक्षा द्वारा जीवित रहने की इच्छा उसकी विरक्ति का दूसरा लक्षण है। ये सारे गुण तथा अपने आध्यात्मिक गुरु श्रीकृष्ण के उपदेशों में उसकी श्रद्धा, ये सब मिलकर सूचित करते हैं कि वह सचमुच पुण्यात्मा था। इस तरह यह निष्कर्ष निकला कि अर्जुन मुक्ति के सर्वथा योग्य था। जब तक इन्द्रियाँ संयमित न हों, ज्ञान के पद तक उठ पाना कठिन है और बिना ज्ञान तथा भक्ति के मुक्ति नहीं होती। अर्जुन अपने भौतिक गुणों के अतिरिक्त इन समस्त दैवी गुणों में भी दक्ष था।

**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः**

**पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।**

**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे**

**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥**

कार्पण्य—कृपणता; दोष—दुर्बलता से; उपहत—ग्रस्त; स्वभावः—गुण, विशेषताएँ; पृच्छामि—पूछ रहा हूँ; त्वाम्—तुम से; धर्म—धर्म; सम्मूढ—मोहग्रस्त; चेताः—हृदय में; यत्—जो; श्रेयः—कल्याणकारी; स्यात्—हो; निश्चितम्—विश्वासपूर्वक; ब्रूहि—कहो; तत्—वह; मे—मुझको; शिष्यः—शिष्य; ते—तुम्हारा; अहम्—मैं; शाधि—उपदेश दीजिये; माम्—मुझको; त्वाम्—तुम्हारा; प्रपन्नम्—शरणागत।

अब मैं अपनी कृपण-दुर्बलता के कारण अपना कर्तव्य भूल गया हूँ और सारा धैर्य खो चुका हूँ। ऐसी अवस्था में मैं आपसे पूछ रहा हूँ कि जो मेरे लिए श्रेयस्कर हो उसे निश्चित रूप से बताएँ। अब मैं आपका शिष्य हूँ और आपका शरणागत हूँ। कृपया मुझे उपदेश दें।



**तात्पर्य :** यह प्राकृतिक नियम है कि भौतिक कार्यकलाप की प्रणाली ही हर एक के लिए चिन्ता का कारण है। पग-पग पर उलझन मिलती है, अतः प्रामाणिक गुरु के पास जाना आवश्यक है, जो जीवन के उद्देश्य को पूरा करने के लिए समुचित पथ-निर्देश दे सके। समग्र वैदिक ग्रंथ हमें यह उपदेश देते हैं कि जीवन की अनचाही उलझनों से मुक्त होने के लिए प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए। ये उलझनें उस दावाग्नि के समान हैं जो किसी के द्वारा लगाये बिना भभक उठती हैं। इसी प्रकार विश्व की स्थिति ऐसी है कि बिना चाहे जीवन की उलझनें स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं। कोई नहीं चाहता कि आग लगे, किन्तु फिर भी वह लगती है और हम अत्यधिक व्याकुल हो उठते हैं। अतः वैदिक वाङ्मय उपदेश देता है कि जीवन की उलझनों को समझने तथा उनका समाधान करने के लिए हमें परम्परागत गुरु के पास जाना चाहिए। जिस व्यक्ति का प्रामाणिक गुरु होता है वह सब कुछ जानता है। अतः मनुष्य को भौतिक उलझनों में न रहकर गुरु के पास जाना चाहिए। यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

आखिर भौतिक उलझनों में कौन सा व्यक्ति पड़ता है? वह जो जीवन की समस्याओं को नहीं समझता। बृहदारण्यक उपनिषद् में (३.८.१०) व्याकुल (व्यग्र) मनुष्य का वर्णन इस प्रकार हुआ है—*यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः*—“कृपण वह है जो मानव जीवन की समस्याओं को हल नहीं करता और आत्म-साक्षात्कार के विज्ञान को समझे बिना कूकर-सूकर की भाँति इस संसार को त्यागकर चला जाता है।” जीव के लिए यह मनुष्य जीवन अत्यन्त मूल्यवान् निधि है, जिसका उपयोग वह अपने जीवन की समस्याओं को हल करने में कर सकता है, अतः जो इस अवसर का लाभ नहीं उठाता वह कृपण है। ब्राह्मण इसके विपरीत होता है जो इस शरीर का उपयोग जीवन की समस्त समस्याओं को हल करने में करता है। *य एतदक्षरं गार्ग्य विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः*। देहात्मबुद्धि वश कृपण या कंजूस लोग अपना सारा समय परिवार, समाज, देश आदि के अत्यधिक प्रेम में गँवा देते हैं। मनुष्य प्रायः चर्मरोग के आधार पर अपने पारिवारिक जीवन अर्थात् पत्नी, बच्चों तथा परिजनों में आसक्त रहता है। कृपण यह सोचता है कि वह अपने परिवार को मृत्यु से बचा सकता है अथवा वह यह सोचता है कि उसका परिवार या समाज उसे मृत्यु से बचा सकता है। ऐसी पारिवारिक आसक्ति निम्न पशुओं में भी पाई जाती है क्योंकि वे भी बच्चों की देखभाल करते हैं। बुद्धिमान् होने के कारण अर्जुन समझ गया था कि पारिवारिक सदस्यों के प्रति उसका अनुराग तथा मृत्यु से उनकी रक्षा करने की उसकी इच्छा ही उसकी उलझनों का कारण है। यद्यपि वह समझ रहा था कि युद्ध करने का कर्तव्य उसकी प्रतीक्षा कर रहा था, किन्तु कृपण—दुर्बलता (कार्पण्यदोष) के कारण वह अपना कर्तव्य नहीं निभा रहा था। अतः वह परम गुरु भगवान् कृष्ण से कोई निश्चित हल निकालने का अनुरोध कर रहा है। वह कृष्ण का शिष्यत्व ग्रहण करता है। वह मित्रतापूर्ण बातें बन्द करना चाहता है। गुरु तथा शिष्य की बातें गम्भीर होती हैं और अब अर्जुन अपने मान्य गुरु के समक्ष गम्भीरतापूर्वक बातें करना चाहता है। इसीलिए कृष्ण भगवद्गीता-ज्ञान के आदि गुरु हैं और अर्जुन गीता समझने वाला प्रथम शिष्य है। अर्जुन भगवद्गीता को किस तरह समझता है यह गीता में वर्णित है। तो भी मूर्ख संसारी विद्वान् बताते हैं कि किसी को



मनुष्य-रूप कृष्ण की नहीं बल्कि “अजन्मा कृष्ण” की शरण ग्रहण करनी चाहिए। कृष्ण के अन्तः तथा बाह्य में कोई अन्तर नहीं है। इस ज्ञान के बिना जो भगवद्गीता को समझने का प्रयास करता है, वह सबसे बड़ा मूर्ख है।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्-  
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।  
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं  
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

न—नहीं; हि—निश्चय ही; प्रपश्यामि—देखता हूँ; मम—मेरा; अपनुद्यात्—दूर कर सके; यत्—जो; शोकम्—शोक; उच्छोषणम्—सुखाने वाला; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों का; अवाप्य—प्राप्त करके; भूमौ—पृथ्वी पर; असपत्नम्—शत्रुविहीन; ऋद्धम्—समृद्ध; राज्यम्—राज्य; सुराणाम्—देवताओं का; अपि—चाहे; च—भी; आधिपत्यम्—सर्वोच्चता।

मुझे ऐसा कोई साधन नहीं दिखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले इस शोक को दूर कर सके। स्वर्ग पर देवताओं के आधिपत्य की तरह इस धनधान्य-सम्पन्न सारी पृथ्वी पर निष्कण्टक राज्य प्राप्त करके भी मैं इस शोक को दूर नहीं कर सकूँगा।

तात्पर्य : यद्यपि अर्जुन धर्म तथा सदाचार के नियमों पर आधारित अनेक तर्क प्रस्तुत करता है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने गुरु भगवान् श्रीकृष्ण की सहायता के बिना अपनी असली समस्या को हल नहीं कर पा रहा। वह समझ गया था कि उसका तथाकथित ज्ञान उसकी उन समस्याओं को दूर करने में व्यर्थ है जो उसके सारे अस्तित्व (शरीर) को सुखाये दे रही थीं। उसे इन उलझनों को भगवान् कृष्ण जैसे आध्यात्मिक गुरु की सहायता के बिना हल कर पाना असम्भव लग रहा था। शैक्षिक ज्ञान, विद्वत्ता, उच्च पद—ये सब जीवन की समस्याओं का हल करने में व्यर्थ हैं। यदि कोई इसमें सहायता कर सकता है, तो वह है एकमात्र गुरु। अतः निष्कर्ष यह निकला कि गुरु जो शत-प्रतिशत कृष्णभावनाभावित होता है, वही एकमात्र प्रामाणिक गुरु है और वही जीवन की समस्याओं को हल कर सकता है। भगवान् चैतन्य ने कहा है कि जो कृष्णभावनामृत के विज्ञान में दक्ष हो, कृष्णतत्त्ववेत्ता हो, चाहे वह जिस किसी जाति का हो, वही वास्तविक गुरु है—

किंवा विप्र, किंवा न्यासी, शूद्र केने नय ।

येइ कृष्णतत्त्ववेत्ता, सेइ ‘गुरु’ हय ॥

“कोई व्यक्ति चाहे वह विप्र (वैदिक ज्ञान में दक्ष) हो, निम्न जाति में जन्मा शूद्र हो या कि संन्यासी, यदि वह कृष्ण के विज्ञान में दक्ष (कृष्णतत्त्ववेत्ता) है तो वह यथार्थ प्रामाणिक गुरु है।” (चैतन्य-चरितामृत, मध्य ८.१२८)। अतः कृष्णतत्त्ववेत्ता हुए बिना कोई भी प्रामाणिक गुरु नहीं हो सकता। वैदिक साहित्य में भी कहा गया है—



षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः ।

अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः ॥

“विद्वान् ब्राह्मण, भले ही वह सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान में पारंगत क्यों न हो, यदि वह वैष्णव नहीं है या कृष्णभावनामृत में दक्ष नहीं है तो गुरु बनने का पात्र नहीं है। किन्तु शूद्र, यदि वह वैष्णव या कृष्णभक्त है तो गुरु बन सकता है।” (पद्मपुराण)

संसार की समस्याओं—जन्म, जरा, व्याधि तथा मृत्यु—की निवृत्ति धन-संचय तथा आर्थिक विकास से सम्भव नहीं है। विश्व के विभिन्न भागों में ऐसे राज्य हैं जो जीवन की सारी सुविधाओं से तथा सम्पत्ति एवं आर्थिक विकास से पूरित हैं, किन्तु फिर भी उनके सांसारिक जीवन की समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। वे विभिन्न साधनों से शान्ति खोजते हैं, किन्तु वास्तविक सुख उन्हें तभी मिल पाता है जब वे कृष्णभावनामृत से युक्त कृष्ण के प्रामाणिक प्रतिनिधि के माध्यम से कृष्ण अथवा कृष्णतत्त्वपूरक भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत के परामर्श को ग्रहण करते हैं।

यदि आर्थिक विकास तथा भौतिक सुख किसी के पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय अव्यवस्था से उत्पन्न हुए शोकों को दूर कर पाते, तो अर्जुन यह न कहता कि पृथ्वी का अप्रतिम राज्य या स्वर्गलोक में देवताओं की सर्वोच्चता भी उसके शोकों को दूर नहीं कर सकती। इसीलिए उसने कृष्णभावनामृत का ही आश्रय ग्रहण किया और यही शान्ति तथा समरसता का उचित मार्ग है। आर्थिक विकास या विश्व आधिपत्य प्राकृतिक प्रलय द्वारा किसी भी क्षण समाप्त हो सकता है। यहाँ तक कि चन्द्रलोक जैसे उच्च लोकों की यात्रा भी, जिसके लिए मनुष्य प्रयत्नशील हैं, एक झटके में समाप्त हो सकती है। भगवद्गीता इसकी पुष्टि करती है—क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति—जब पुण्यकर्मों के फल समाप्त हो जाते हैं तो मनुष्य सुख के शिखर से जीवन के निम्नतम स्तर पर गिर जाता है। इस तरह से विश्व के अनेक राजनीतिज्ञों का पतन हुआ है। ऐसा अधःपतन शोक का कारण बनता है।

अतः यदि हम सदा के लिए शोक का निवारण चाहते हैं तो हमें कृष्ण की शरण ग्रहण करनी होगी, जिस तरह अर्जुन ने की। अर्जुन ने कृष्ण से प्रार्थना की कि वे उसकी समस्या का निश्चित समाधान कर दें और यही कृष्णभावनामृत की विधि है।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः ।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ १ ॥

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; हृषीकेशम्—कृष्ण से, जो इन्द्रियों के स्वामी हैं; गुडाकेशः—अर्जुन, जो अज्ञान को मिटाने वाला है; परन्तपः—अर्जुन, शत्रुओं का दमन करने वाला; न योत्स्ये—नहीं लड़ूँगा; इति—इस प्रकार; गोविन्दम्—इन्द्रियों के आनन्ददायक कृष्ण से; उक्त्वा—कहकर; तूष्णीम्—चुप; बभूव—हो गया; ह—निश्चय ही।

संजय ने कहा—इस प्रकार कहने के बाद शत्रुओं का दमन करने वाला अर्जुन कृष्ण से बोला, “हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा,” और चुप हो गया।



तात्पर्य : धृतराष्ट्र को यह जानकर परम प्रसन्नता हुई होगी कि अर्जुन युद्ध न करके युद्धभूमि छोड़कर भिक्षाटन करने जा रहा है। किन्तु संजय ने उसे पुनः यह कह कर निराश कर दिया कि अर्जुन अपने शत्रुओं को मारने में सक्षम है (परन्तपः)। यद्यपि कुछ समय के लिए अर्जुन अपने पारिवारिक स्नेह के प्रति मिथ्या शोक से अभिभूत था, किन्तु उसने शिष्य रूप में अपने गुरु श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण कर ली। इससे सूचित होता है कि शीघ्र ही वह इस शोक से निवृत्त हो जायेगा और आत्म-साक्षात्कार या कृष्णभावनामृत के पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित होकर पुनः युद्ध करेगा। इस तरह धृतराष्ट्र का हर्ष भंग हो जायेगा।

**तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।**

**सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥**

तम्—उससे; उवाच—कहा; हृषीकेशः—इन्द्रियों के स्वामी कृष्ण ने; प्रहसन्—हँसते हुए; इव—मानो; भारत—हे भरतवंशी धृतराष्ट्र; सेनयोः—सेनाओं के; उभयोः—दोनों पक्षों की; मध्ये—बीच में; विषीदन्तम्—शोकमग्न; इदम्—यह (निम्नलिखित); वचः—शब्द।

हे भरतवंशी (धृतराष्ट्र)! उस समय दोनों सेनाओं के मध्य शोकमग्न अर्जुन से कृष्ण ने मानो हँसते हुए ये शब्द कहे।

तात्पर्य : दो घनिष्ठ मित्रों अर्थात् हृषीकेश तथा गुडाकेश के मध्य वार्ता चल रही थी। मित्र के रूप में दोनों का पद समान था, किन्तु इनमें से एक स्वेच्छा से दूसरे का शिष्य बन गया। कृष्ण हँस रहे थे क्योंकि उनका मित्र अब उनका शिष्य बन गया था। सबों के स्वामी होने के कारण वे सदैव श्रेष्ठ पद पर रहते हैं तो भी भगवान् अपने भक्त के लिए सखा, पुत्र या प्रेमी बनना स्वीकार करते हैं। किन्तु जब उन्हें गुरु रूप में अंगीकार कर लिया गया तो उन्होंने तुरन्त गुरु की भूमिका निभाने के लिए शिष्य से गुरु की भाँति गम्भीरतापूर्वक बातें कीं जैसा कि अपेक्षित है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुरु तथा शिष्य की यह वार्ता दोनों सेनाओं की उपस्थिति में हुई जिससे सारे लोग लाभान्वित हुए। अतः भगवद्गीता का संवाद किसी एक व्यक्ति, समाज या जाति के लिए नहीं अपितु सबों के लिए है और उसे सुनने के लिए शत्रु या मित्र समान रूप से अधिकारी हैं।

श्रीभगवानुवाच

**अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।**

**गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥**

श्रीभगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; अशोच्यान्—जो शोक के योग्य नहीं हैं; अन्वशोचः—शोक करते हो; त्वम्—तुम; प्रज्ञावादान्—पाण्डित्यपूर्ण बातें; च—भी; भाषसे—कहते हो; गत—चले गये, रहित; असून्—प्राण; अगत—नहीं गये; असून्—प्राण; च—भी; न—कभी नहीं; अनुशोचन्ति—शोक करते हैं; पण्डिताः—विद्वान् लोग।

श्री भगवान् ने कहा—तुम पाण्डित्यपूर्ण वचन कहते हुए उनके लिए शोक कर रहे



हो जो शोक करने योग्य नहीं हैं। जो विद्वान् होते हैं, वे न तो जीवित के लिए, न ही मृत के लिए शोक करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् ने तत्काल गुरु का पद सँभाला और अपने शिष्य को अप्रत्यक्षतः मूर्ख कह कर डाँटा। उन्होंने कहा, “तुम विद्वान् की तरह बातें करते हो, किन्तु तुम यह नहीं जानते कि जो विद्वान् होता है—अर्थात् जो यह जानता है कि शरीर तथा आत्मा क्या हैं—वह किसी भी अवस्था में शरीर के लिए, चाहे वह जीवित हो या मृत—शोक नहीं करता।” अगले अध्यायों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि ज्ञान का अर्थ पदार्थ तथा आत्मा एवं इन दोनों के नियामक को जानना है। अर्जुन का तर्क था कि राजनीति या समाजनीति की अपेक्षा धर्म को अधिक महत्त्व मिलना चाहिए, किन्तु उसे यह ज्ञात न था कि पदार्थ, आत्मा तथा परमेश्वर का ज्ञान धार्मिक सूत्रों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। और चूँकि उसमें इस ज्ञान का अभाव था, अतः उसे विद्वान् नहीं बनना चाहिए था। और चूँकि वह अत्यधिक विद्वान् नहीं था इसलिए वह शोक के सर्वथा अयोग्य वस्तु के लिए शोक कर रहा था। यह शरीर जन्मता है और आज या कल इसका विनाश निश्चित है, अतः शरीर उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि आत्मा है। जो इस तथ्य को जानता है वही असली विद्वान् है और उसके लिए शोक का कोई कारण नहीं हो सकता।

**न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।**

**न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥**

न—नहीं; तु—लेकिन; एव—निश्चय ही; अहम्—मैं; जातु—किसी काल में; न—नहीं; आसम्—था; न—नहीं; त्वम्—तुम; न—नहीं; इमे—ये सब; जन-अधिपाः—राजागण; न—कभी नहीं; च—भी; एव—निश्चय ही; न—नहीं; भविष्यामः—रहेंगे; सर्वे वयम्—हम सब; अतः परम्—इससे आगे।

ऐसा कभी नहीं हुआ कि मैं न रहा होऊँ या तुम न रहे हो अथवा ये समस्त राजा न रहे हों; और न ऐसा है कि भविष्य में हम लोग नहीं रहेंगे।

तात्पर्य : वेदों में, कठोपनिषद् में तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा गया है कि जो श्रीभगवान् असंख्य जीवों के कर्म तथा कर्मफल के अनुसार उनकी अपनी-अपनी परिस्थितियों में पालक हैं, वही भगवान् अंश रूप में हर जीव के हृदय में वास कर रहे हैं। केवल साधु पुरुष, जो एक ही ईश्वर को भीतर-बाहर देख सकते हैं, पूर्ण एवं शाश्वत शान्ति प्राप्त कर पाते हैं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

(कठोपनिषद् २.२.१३)

जो वैदिक ज्ञान अर्जुन को प्रदान किया गया वही विश्व के उन समस्त पुरुषों को प्रदान किया जाता है जो विद्वान् होने का दावा तो करते हैं किन्तु जिनकी ज्ञानराशि न्यून है। भगवान् यह स्पष्ट कहते हैं कि वे स्वयं, अर्जुन तथा युद्धभूमि में एकत्र सारे राजा शाश्वत प्राणी हैं और इन जीवों की बद्ध तथा मुक्त अवस्थाओं में भगवान् ही एकमात्र उनके पालक हैं। भगवान् परम पुरुष हैं तथा भगवान् का चिर संगी अर्जुन एवं वहाँ



पर एकत्र सारे राजागण शाश्वत पुरुष हैं। ऐसा नहीं है कि ये भूतकाल में प्राणियों के रूप में अलग-अलग उपस्थित नहीं थे और ऐसा भी नहीं है कि ये शाश्वत पुरुष बने नहीं रहेंगे। उनका अस्तित्व भूतकाल में था और भविष्य में भी निर्बाध रूप से बना रहेगा। अतः किसी के लिए शोक करने की कोई बात नहीं है।

यह मायावादी सिद्धान्त कि मुक्ति के बाद आत्मा माया के आवरण से पृथक् होकर निराकार ब्रह्म में लीन हो जायेगा और अपना अस्तित्व खो देगा यहाँ पर परम अधिकारी भगवान् कृष्ण द्वारा पुष्ट नहीं हो पाता। न ही इस सिद्धान्त का समर्थन हो पाता है कि बद्ध अवस्था में ही हम अस्तित्व का चिन्तन करते हैं। यहाँ पर कृष्ण स्पष्टतः कहते हैं कि भगवान् तथा अन्यो का अस्तित्व भविष्य में भी अक्षुण्ण रहेगा जिसकी पुष्टि उपनिषदों द्वारा भी होती है। कृष्ण का यह कथन प्रामाणिक है क्योंकि कृष्ण मायावश्य नहीं हैं। यदि अस्तित्व तथ्य न होता तो फिर कृष्ण इतना बल क्यों देते और वह भी भविष्य के लिए! मायावादी यह तर्क कर सकते हैं कि कृष्ण द्वारा कथित अस्तित्व आध्यात्मिक न होकर भौतिक है। यदि हम इस तर्क को, कि अस्तित्व भौतिक होता है, स्वीकार कर भी लें तो फिर कोई कृष्ण के अस्तित्व को किस प्रकार पहचानेगा? कृष्ण भूतकाल में भी अपने अस्तित्व की पुष्टि करते हैं और भविष्य में भी अपने अस्तित्व की पुष्टि करते हैं। उन्होंने अपने अस्तित्व की पुष्टि कई प्रकार से की है और निराकार ब्रह्म उनके अधीन घोषित किया जा चुका है। कृष्ण सदा सर्वदा अपना अस्तित्व बनाये रहे हैं; यदि उन्हें सामान्य चेतना वाले सामान्य व्यक्ति के रूप में माना जाता है तो प्रामाणिक शास्त्र के रूप में उनकी भगवद्गीता की कोई महत्ता नहीं होगी। एक सामान्य व्यक्ति मनुष्यों के चार अवगुणों के कारण श्रवण करने योग्य शिक्षा देने में असमर्थ रहता है। गीता ऐसे साहित्य से ऊपर है। कोई भी संसारी ग्रंथ गीता की तुलना नहीं कर सकता। श्रीकृष्ण को सामान्य व्यक्ति मान लेने पर गीता की सारी महत्ता जाती रहती है। मायावादियों का तर्क है कि इस श्लोक में वर्णित द्वैत लौकिक है और शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। किन्तु इसके पहले वाले श्लोक में ऐसी देहात्मबुद्धि की निन्दा की गई है। एक बार जीवों की देहात्मबुद्धि की निन्दा करने के बाद यह कैसे सम्भव है कि कृष्ण पुनः शरीर पर उसी वक्तव्य को दुहराते? अतः यह अस्तित्व आध्यात्मिक आधार पर स्थापित है और इसकी पुष्टि रामानुजाचार्य तथा अन्य आचार्यों ने भी की है। गीता में कई स्थलों पर इसका उल्लेख है कि यह आध्यात्मिक अस्तित्व केवल भगवद्भक्तों द्वारा ज्ञेय है। जो लोग भगवान् कृष्ण का विरोध करते हैं उनकी इस महान साहित्य तक पहुँच नहीं हो पाती। अभक्तों द्वारा गीता के उपदेशों को समझने का प्रयास मधुमक्खी द्वारा मधुपात्र चाटने के सदृश है। पात्र को खोले बिना मधु को नहीं चखा जा सकता। इसी प्रकार भगवद्गीता के रहस्यवाद को केवल भक्त ही समझ सकते हैं, अन्य कोई नहीं, जैसा कि इसके चतुर्थ अध्याय में कहा गया है। न ही गीता का स्पर्श ऐसे लोग कर पाते हैं जो भगवान् के अस्तित्व का ही विरोध करते हैं। अतः मायावादियों द्वारा गीता की व्याख्या मानो समग्र सत्य का सरासर भ्रामक निरूपण है। भगवान् चैतन्य ने मायावादियों द्वारा की गई गीता की व्याख्याओं को पढ़ने का निषेध किया है और चेतावनी दी है कि जो कोई ऐसे मायावादी दर्शन को ग्रहण करता है वह गीता के वास्तविक रहस्य को



समझ पाने में असमर्थ रहता है। यदि अस्तित्व का अभिप्राय अनुभवगम्य ब्रह्माण्ड से है तो भगवान् द्वारा उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। आत्मा तथा परमात्मा का द्वैत शाश्वत तथ्य है और इसकी पुष्टि वेदों द्वारा होती है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

**देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।**

**तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥१३॥**

देहिनः—शरीरधारी की; अस्मिन्—इसमें; यथा—जिस प्रकार; देहे—शरीर में; कौमारम्—बाल्यावस्था; यौवनम्—यौवन, तारुण्य; जरा—वृद्धावस्था; तथा—उसी प्रकार; देह-अन्तर—शरीर के स्थानान्तरण की; प्राप्तिः—उपलब्धि; धीरः—धीर व्यक्ति; तत्र—उस विषय में; न—कभी नहीं; मुह्यति—मोह को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार शरीरधारी आत्मा इस (वर्तमान) शरीर में बाल्यावस्था से तरुणावस्था में और फिर वृद्धावस्था में निरन्तर अग्रसर होता रहता है, उसी प्रकार मृत्यु होने पर आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है। धीर व्यक्ति ऐसे परिवर्तन से मोह को प्राप्त नहीं होता।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव एक व्यष्टि आत्मा है। वह प्रतिक्षण अपना शरीर बदलता रहता है—कभी बालक के रूप में, कभी युवा तथा कभी वृद्ध पुरुष के रूप में। तो भी आत्मा वही रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। यह व्यष्टि आत्मा मृत्यु होने पर अन्ततोगत्वा एक शरीर बदल कर दूसरे शरीर में देहान्तरण कर जाता है और चूँकि अगले जन्म में इसको शरीर मिलना अवश्यम्भावी है—चाहे वह शरीर आध्यात्मिक हो या भौतिक—अतः अर्जुन के लिए न तो भीष्म, न ही द्रोण के लिए शोक करने का कोई कारण था। अपितु उसे प्रसन्न होना चाहिए था कि वे अपने पुराने शरीरों को बदल कर नये शरीर ग्रहण करेंगे और इस तरह वे नई शक्ति प्राप्त करेंगे। ऐसे शरीर-परिवर्तन से जीवन में किये कर्म के अनुसार नाना प्रकार के सुखोपभोग या कष्टों का लेखा हो जाता है। चूँकि भीष्म व द्रोण साधु पुरुष थे इसलिए अगले जन्म में उन्हें आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होंगे; नहीं तो कम से कम उन्हें स्वर्ग में भोग करने के अनुरूप शरीर तो प्राप्त होंगे ही, अतः दोनों ही दशाओं में शोक का कोई कारण नहीं था।

जिस मनुष्य को व्यष्टि आत्मा, परमात्मा तथा भौतिक और आध्यात्मिक प्रकृति का पूर्ण ज्ञान होता है वह धीर कहलाता है। ऐसा मनुष्य कभी भी शरीर-परिवर्तन द्वारा ठगा नहीं जाता।

आत्मा के एकात्मवाद का मायावादी सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा के इस प्रकार विखण्डन से परमेश्वर विखंडनीय या परिवर्तनशील हो जायेगा जो परमात्मा के अपरिवर्तनीय होने के सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। गीता में पुष्टि हुई है कि परमात्मा के खण्डों का शाश्वत (सनातन) अस्तित्व है जिन्हें क्षर कहा जाता है अर्थात् उनमें भौतिक प्रकृति में गिरने की प्रवृत्ति होती है। ये भिन्न अंश (खण्ड) नित्य भिन्न रहते हैं, यहाँ तक



कि मुक्ति के बाद भी व्यष्टि आत्मा जैसे का तैसा—भिन्न अंश—बना रहता है। किन्तु एक बार मुक्त होने पर वह श्रीभगवान् के साथ सच्चिदानन्द रूप में रहता है। परमात्मा पर प्रतिबिम्बवाद का सिद्धान्त व्यवहृत किया जा सकता है, जो प्रत्येक शरीर में विद्यमान रहता है। वह व्यष्टि जीव से भिन्न होता है। जब आकाश का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है तो प्रतिबिम्ब में सूर्य, चन्द्र तथा तारे सभी कुछ रहते हैं। तारों की तुलना जीवों से तथा सूर्य या चन्द्र की परमेश्वर से की जा सकती है। व्यष्टि अंश आत्मा को अर्जुन के रूप में और परमात्मा को श्रीभगवान् के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। जैसा कि चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में स्पष्ट है, वे एक ही स्तर पर नहीं होते। यदि अर्जुन कृष्ण के समान स्तर पर हो और कृष्ण अर्जुन से श्रेष्ठतर न हों तो उनमें उपदेशक तथा उपदिष्ट का सम्बन्ध अर्थहीन होगा। यदि ये दोनों माया द्वारा मोहित होते हैं तो एक को उपदेशक तथा दूसरे को उपदिष्ट होने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसा उपदेश व्यर्थ होगा क्योंकि माया के चंगुल में रहकर कोई भी प्रामाणिक उपदेशक नहीं बन सकता। ऐसी परिस्थितियों में यह मान लिया जाता है कि भगवान् कृष्ण परमेश्वर हैं जो पद में माया द्वारा विस्मृत अर्जुन रूपी जीव से श्रेष्ठ हैं।

**मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।**

**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥**

**मात्रा-स्पर्शाः**—इन्द्रियविषय; **तु**—केवल; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **शीत**—जाड़ा; **उष्ण**—ग्रीष्म; **सुख**—सुख; **दुःख**—तथा दुख; **दाः**—देने वाले; **आगम**—आना; **आपायिनः**—जाना; **अनित्याः**—क्षणिक; **तान्**—उनको; **तितिक्षस्व**—सहन करने का प्रयत्न करो; **भारत**—हे भरतवंशी।

हे कुन्तीपुत्र! सुख तथा दुख का क्षणिक उदय तथा कालक्रम में उनका अन्तर्धान होना सर्दी तथा गर्मी की ऋतुओं के आने जाने के समान है। हे भरतवंशी! वे इन्द्रियबोध से उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को चाहिए कि अविचल भाव से उनको सहन करना सीखे।

**तात्पर्य** : कर्तव्य-निर्वाह करते हुए मनुष्य को सुख तथा दुख के क्षणिक आने-जाने को सहन करने का अभ्यास करना चाहिए। वैदिक आदेशानुसार मनुष्य को माघ (जनवरी-फरवरी) के मास में भी प्रातःकाल स्नान करना चाहिए। उस समय अत्यधिक ठंड पड़ती है, किन्तु जो धार्मिक नियमों का पालन करने वाला है, वह स्नान करने में तनिक भी झिझकता नहीं। इसी प्रकार एक गृहिणी भीषण से भीषण गर्मी की ऋतु में (मई-जून के महीनों में) भोजन पकाने में हिचकती नहीं। जलवायु सम्बन्धी असुविधाएँ होते हुए भी मनुष्य को अपना कर्तव्य निभाना होता है। इसी प्रकार युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है अतः उसे अपने किसी मित्र या परिजन से भी युद्ध करना पड़े तो उसे अपने धर्म से विचलित नहीं होना चाहिए। मनुष्य को ज्ञान प्राप्त करने के लिए धर्म के विधि-विधान पालन करने होते हैं क्योंकि ज्ञान तथा भक्ति से ही मनुष्य अपने आपको माया के बंधन से छुड़ा सकता है।



अर्जुन को जिन दो नामों से सम्बोधित किया गया है, वे भी महत्त्वपूर्ण हैं। कौन्तेय कहकर सम्बोधित करने से यह प्रकट होता है कि वह अपनी माता की ओर (मातृकुल)से सम्बन्धित है और भारत कहने से उसके पिता की ओर (पितृकुल)से सम्बन्ध प्रकट होता है। दोनों ओर से उसको महान विरासत प्राप्त है। महान विरासत प्राप्त होने के फलस्वरूप कर्तव्यनिर्वाह का उत्तरदायित्व आ पड़ता है, अतः अर्जुन युद्ध से विमुख नहीं हो सकता।

**यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।**

**समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥**

यम्—जिस; हि—निश्चित रूप से; न—कभी नहीं; व्यथयन्ति—विचलित नहीं करते; एते—ये सब; पुरुषम्—मनुष्य को; पुरुष-ऋषभ—हे पुरुष-श्रेष्ठ; सम—अपरिवर्तनीय; दुःख—दुख में; सुखम्—तथा सुख में; धीरम्—धीर पुरुष; सः—वह; अमृतत्वाय—मुक्ति के लिए; कल्पते—योग्य है।

हे पुरुषश्रेष्ठ (अर्जुन)! जो पुरुष सुख तथा दुख में विचलित नहीं होता और इन दोनों में समभाव रहता है, वह निश्चित रूप से मुक्ति के योग्य है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार की उच्च अवस्था प्राप्त करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञा है और सुख तथा दुख के प्रहारों को समभाव से सह सकता है वह निश्चय ही मुक्ति के योग्य है। वर्णाश्रम-धर्म में चौथी अवस्था अर्थात् संन्यास आश्रम कष्टसाध्य अवस्था है। किन्तु जो अपने जीवन को सचमुच पूर्ण बनाना चाहता है वह समस्त कठिनाइयों के होते हुए भी संन्यास आश्रम अवश्य ग्रहण करता है। ये कठिनाइयाँ पारिवारिक सम्बन्ध-विच्छेद करने तथा पत्नी और सन्तान से सम्बन्ध तोड़ने के कारण उत्पन्न होती हैं। किन्तु यदि कोई इन कठिनाइयों को सह लेता है तो उसके आत्म-साक्षात्कार का पथ निष्कण्टक हो जाता है। अतः अर्जुन को क्षत्रिय-धर्म निर्वाह में दृढ़ रहने के लिए कहा जा रहा है, भले ही स्वजनों या अन्य प्रिय व्यक्तियों के साथ युद्ध करना कितना ही दुष्कर क्यों न हो। भगवान् चैतन्य ने चौबीस वर्ष की अवस्था में ही संन्यास ग्रहण कर लिया था यद्यपि उन पर आश्रित उनकी तरुण पत्नी तथा वृद्धा माँ की देखभाल करने वाला अन्य कोई न था। तो भी उच्चादर्श के लिए उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और अपने कर्तव्यपालन में स्थिर बने रहे। भवबन्धन से मुक्ति पाने का यही एकमात्र उपाय है।

**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**

**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥**

न—नहीं; असतः—असत् का; विद्यते—है; भावः—चिरस्थायित्व; न—कभी नहीं; अभावः—परिवर्तनशील गुण; विद्यते—है; सतः—शाश्वत का; उभयोः—दोनों का; अपि—ही; दृष्टः—देखा गया; अन्तः—निष्कर्ष; तु—निस्सन्देह; अनयोः—इनका; तत्त्व—सत्य के; दर्शिभिः—भविष्यद्रष्टा द्वारा।

तत्त्वदर्शियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि असत् (भौतिक शरीर) का तो कोई



धिरस्थायित्व नहीं है, किन्तु सत् (आत्मा) अपरिवर्तित रहता है। उन्होंने इन दोनों की प्रकृति के अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है।

तात्पर्य : परिवर्तनशील शरीर का कोई स्थायित्व नहीं है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने भी यह स्वीकार किया है कि विभिन्न कोशिकाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा शरीर प्रतिक्षण बदलता रहता है। इस तरह शरीर में वृद्धि तथा वृद्धावस्था आती रहती है। किन्तु शरीर तथा मन में निरन्तर परिवर्तन होने पर भी आत्मा स्थायी रहता है। यही पदार्थ तथा आत्मा का अन्तर है। स्वभावतः शरीर नित्य परिवर्तनशील है और आत्मा शाश्वत है। तत्त्वदर्शियों ने, चाहे वे निर्विशेषवादी हों या सगुणवादी, इस निष्कर्ष की स्थापना की है। विष्णु-पुराण में (२.१२.३८) कहा गया है कि विष्णु तथा उनके धाम स्वयंप्रकाश से प्रकाशित हैं—(ज्योतीषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः)। सत् तथा असत् शब्द आत्मा तथा भौतिक पदार्थ के ही द्योतक हैं। सभी तत्त्वदर्शियों की यह स्थापना है।

यहीं से भगवान् द्वारा अज्ञान से मोहग्रस्त जीवों को उपदेश देने का शुभारम्भ होता है। अज्ञान को हटाने के लिए आराधक और आराध्य के बीच पुनः शाश्वत सम्बन्ध स्थापित करना होता है और फिर अंश-रूप जीवों तथा श्रीभगवान् के अन्तर को समझना होता है। कोई भी व्यक्ति आत्मा के अध्ययन द्वारा परमेश्वर के स्वभाव को समझ सकता है—आत्मा तथा परमात्मा का अन्तर अंश तथा पूर्ण के अन्तर के रूप में है। वेदान्त-सूत्र तथा श्रीमद्भागवत में परमेश्वर को समस्त उद्भवों (प्रकाश) का मूल माना गया है। ऐसे उद्भवों का अनुभव परा तथा अपरा प्राकृतिक-क्रमों द्वारा किया जाता है। जीव का सम्बन्ध परा प्रकृति से है, जैसा कि सातवें अध्याय से स्पष्ट होगा। यद्यपि शक्ति तथा शक्तिमान में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु शक्तिमान को परम माना जाता है और शक्ति या प्रकृति को गौण। अतः सारे जीव उसी तरह परमेश्वर के सदैव अधीन रहते हैं जिस तरह सेवक स्वामी के या शिष्य गुरु के अधीन रहता है। अज्ञानावस्था में ऐसे स्पष्ट ज्ञान को समझ पाना असम्भव है। अतः ऐसे अज्ञान को दूर करने के लिए सदा सर्वदा के लिए जीवों को प्रबुद्ध करने हेतु भगवान् भगवद्गीता का उपदेश देते हैं।

**अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।**

**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥**

अविनाशि—नाशरहित; तु—लेकिन; तत्—उसे; विद्धि—जानो; येन—जिससे; सर्वम्—सम्पूर्ण शरीर; इदम्—यह; ततम्—परिव्याप्त; विनाशम्—नाश; अव्ययस्य—अविनाशी का; अस्य—इस; न कश्चित्—कोई भी नहीं; कर्तुम्—करने के लिए; अर्हति—समर्थ है।

जो सारे शरीर में व्याप्त है उसे ही तुम अविनाशी समझो। उस अव्यय आत्मा को नष्ट करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

तात्पर्य : इस श्लोक में सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त आत्मा की प्रकृति का अधिक स्पष्ट वर्णन हुआ है। सभी लोग समझते हैं कि जो सारे शरीर में व्याप्त है वह चेतना है। प्रत्येक व्यक्ति को शरीर में किसी अंश या पूरे भाग में सुख-दुख का अनुभव होता है। किन्तु चेतना की यह व्याप्ति किसी के शरीर तक ही सीमित रहती है। एक शरीर के सुख



तथा दुख का बोध दूसरे शरीर को नहीं हो पाता। फलतः प्रत्येक शरीर में व्यष्टि आत्मा है और इस आत्मा की उपस्थिति का लक्षण व्यष्टि चेतना द्वारा परिलक्षित होता है। इस आत्मा को बाल के अग्रभाग के दस हजारवें भाग के तुल्य बताया जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में (५.९) इसकी पुष्टि हुई है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

“यदि बाल के अग्रभाग को एक सौ भागों में विभाजित किया जाय और फिर इनमें से प्रत्येक भाग को एक सौ भागों में विभाजित किया जाय तो इस तरह के प्रत्येक भाग की माप आत्मा का परिमाण है।” इसी प्रकार यही कथन निम्नलिखित श्लोक में मिलता है—

केशाग्रशतभागस्य शतांशः सादृशात्मकः।

जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः॥

“आत्मा के परमाणुओं के अनन्त कण हैं जो माप में बाल के अगले भाग (नोक) के दस हजारवें भाग के बराबर हैं।”

इस प्रकार आत्मा का प्रत्येक कण भौतिक परमाणुओं से भी छोटा है और ऐसे असंख्य कण हैं। यह अत्यन्त लघु आत्म-स्फुलिंग भौतिक शरीर का मूल आधार है और इस आत्म-स्फुलिंग का प्रभाव सारे शरीर में उसी तरह व्याप्त है जिस प्रकार किसी औषधि का प्रभाव व्याप्त रहता है। आत्मा की यह धारा (विद्युतधारा) सारे शरीर में चेतना के रूप में अनुभव की जाती है और यही आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है। सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी समझ सकता है कि यह भौतिक शरीर चेतनारहित होने पर मृतक हो जाता है और शरीर में इस चेतना को किसी भी भौतिक उपचार से वापस नहीं लाया जा सकता। अतः यह चेतना भौतिक संयोग के फलस्वरूप नहीं है, अपितु आत्मा के कारण है। मुण्डक उपनिषद् में (३.१.९) सूक्ष्म (परमाणविक) आत्मा की और अधिक विवेचना हुई है—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥

“आत्मा आकार में अणु तुल्य है जिसे पूर्ण बुद्धि के द्वारा जाना जा सकता है। यह अणु-आत्मा पाँच प्रकार के प्राणों में तैर रहा है (प्राण, अपान, व्यान, समान तथा उदान); यह हृदय के भीतर स्थित है और देहधारी जीव के पूरे शरीर में अपने प्रभाव का विस्तार करता है। जब आत्मा को पाँच वायुओं के कल्मष से शुद्ध कर लिया जाता है तो इसका आध्यात्मिक प्रभाव प्रकट होता है।”

हठ-योग का प्रयोजन विविध आसनों द्वारा उन पाँच प्रकार के प्राणों को नियन्त्रित करना है जो आत्मा को घेरे हुए हैं। यह योग किसी भौतिक लाभ के लिए नहीं, अपितु भौतिक आकाश के बन्धन से अणु-आत्मा की मुक्ति के लिए किया जाता है।

इस प्रकार अणु-आत्मा को सारे वैदिक साहित्य ने स्वीकारा है और प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति अपने व्यावहारिक अनुभव से इसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है। केवल मूर्ख व्यक्ति ही इस अणु-आत्मा को सर्वव्यापी विष्णु-तत्त्व के रूप में सोच सकता है।



अणु-आत्मा का प्रभाव पूरे शरीर में व्याप्त हो सकता है। मुण्डक उपनिषद् के अनुसार यह अणु-आत्मा प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित है और चूँकि भौतिक विज्ञानी इस अणु-आत्मा को माप सकने में असमर्थ हैं, अतः उनमें से कुछ यह अनुभव करते हैं कि आत्मा है ही नहीं। व्यष्टि आत्मा तो निस्सन्देह परमात्मा के साथ-साथ हृदय में है और इसीलिए शारीरिक गतियों की सारी शक्ति शरीर के इसी भाग से उद्भूत है। जो लाल रक्तकण फेफड़ों से आक्सीजन ले जाते हैं वे आत्मा से ही शक्ति प्राप्त करते हैं। अतः जब आत्मा इस स्थान से निकल जाता है तो रक्तोत्पादक संलयन (fusion) बन्द हो जाता है। औषधि विज्ञान लाल रक्तकणों की महत्ता को तो स्वीकार करता है, किन्तु वह यह निश्चित नहीं कर पाता कि शक्ति का स्रोत आत्मा है। जो भी हो, औषधि विज्ञान यह स्वीकार करता है कि शरीर की सारी शक्ति का उद्गमस्थल हृदय है।

पूर्ण आत्मा के ऐसे अणुकणों की तुलना सूर्य-प्रकाश के कणों से की जाती है। इस सूर्य-प्रकाश में असंख्य तेजोमय अणु होते हैं। इसी प्रकार परमेश्वर के अंश उनकी किरणों के परमाणु स्फुलिंग हैं और प्रभा या परा शक्ति कहलाते हैं। अतः चाहे कोई वैदिक ज्ञान का अनुगामी हो या आधुनिक विज्ञान का, वह शरीर में आत्मा के अस्तित्व को नकार नहीं सकता। भगवान् ने स्वयं भगवद्गीता में आत्मा के इस विज्ञान का विशद वर्णन किया है।

**अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।**

**अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥**

अन्त-वन्त—नाशवान; इमे—ये सब; देहाः—भौतिक शरीर; नित्यस्य—नित्य स्वरूप; उक्ताः—कहे जाते हैं; शरीरिणः—देहधारी जीव का; अनाशिनः—कभी नाश न होने वाला; अप्रमेयस्य—न मापा जा सकने योग्य; तस्मात्—अतः; युध्यस्व—युद्ध करो; भारत—हे भरतवंशी।

अविनाशी, अप्रमेय तथा शाश्वत जीव के भौतिक शरीर का अन्त अवश्यम्भावी है।

अतः हे भरतवंशी! युद्ध करो।

तात्पर्य : भौतिक शरीर स्वभाव से नाशवान है। यह तत्क्षण नष्ट हो सकता है और सौ वर्ष बाद भी। यह केवल समय की बात है। इसे अनन्त काल तक बनाये रखने की कोई सम्भावना नहीं है। किन्तु आत्मा इतना सूक्ष्म है कि इसे शत्रु देख भी नहीं सकता, मारना तो दूर रहा। जैसा कि पिछले श्लोक में कहा गया है, यह इतना सूक्ष्म है कि कोई इसके मापने की बात सोच भी नहीं सकता। अतः दोनों ही दृष्टि से शोक का कोई कारण नहीं है क्योंकि जीव जिस रूप में है, न तो उसे मारा जा सकता है, न ही शरीर को कुछ समय तक या स्थायी रूप से बचाया जा सकता है। पूर्ण आत्मा के सूक्ष्म कण अपने कर्म के अनुसार ही यह शरीर धारण करते हैं, अतः धार्मिक नियमों का पालन करना चाहिए। वेदान्त-सूत्र में जीव को प्रकाश बताया गया है क्योंकि वह परम प्रकाश का अंश है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सारे ब्रह्माण्ड का पोषण करता है उसी प्रकार आत्मा के प्रकाश से इस भौतिक देह का पोषण होता है। जैसे ही आत्मा इस भौतिक शरीर से बाहर निकल जाता है, शरीर सड़ने लगता है, अतः आत्मा ही शरीर का पोषक है।



शरीर अपने आप में महत्त्वहीन है। इसीलिए अर्जुन को उपदेश दिया गया कि वह युद्ध करे और भौतिक शारीरिक कारणों से धर्म की बलि न होने दे।

**य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।**

**उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥**

यः—जो; एनम्—इसको; वेत्ति—जानता है; हन्तारम्—मारने वाला; यः—जो; च—भी; एनम्—इसे; मन्यते—मानता है; हतम्—मरा हुआ; उभौ—दोनों; तौ—वे; न—कभी नहीं; विजानीतः—जानते हैं; न—कभी नहीं; अयम्—यह; हन्ति—मारता है; न—नहीं; हन्यते—मारा जाता है।

जो इस जीवात्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसे मरा हुआ समझता है, वे दोनों ही अज्ञानी हैं, क्योंकि आत्मा न तो मारता है और न मारा जाता है।

तात्पर्य : जब देहधारी जीव को किसी घातक हथियार से आघात पहुँचाया जाता है तो यह समझ लेना चाहिए कि शरीर के भीतर का जीवात्मा मरा नहीं। आत्मा इतना सूक्ष्म है कि इसे किसी तरह के भौतिक हथियार से मार पाना असम्भव है, जैसा कि अगले श्लोकों से स्पष्ट हो जायेगा। न ही जीवात्मा अपने आध्यात्मिक स्वरूप के कारण वध्य है। जिसे मारा जाता है या जिसे मरा हुआ समझा जाता है वह केवल शरीर होता है। किन्तु इसका तात्पर्य शरीर के वध को प्रोत्साहित करना नहीं है। वैदिक आदेश है—मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि—किसी भी जीव की हिंसा न करो। न ही 'जीवात्मा अवध्य है' का अर्थ यह है कि पशु-हिंसा को प्रोत्साहन दिया जाय। किसी भी जीव के शरीर की अनधिकार हत्या करना निंद्य है और राज्य तथा भगवद्विधान के द्वारा दण्डनीय है। किन्तु अर्जुन को तो धर्म के नियमानुसार मारने के लिए नियुक्त किया जा रहा था, किसी पागलपनवश नहीं।

**न जायते म्रियते वा कदाचिन्**

**नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।**

**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो**

**न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥**

न—कभी नहीं; जायते—जन्मता है; म्रियते—मरता है; वा—या; कदाचित्—कभी भी (भूत, वर्तमान या भविष्य); न—कभी नहीं; अयम्—यह; भूत्वा—होकर; भविता—होने वाला; वा—अथवा; न—नहीं; भूयः—अथवा, पुनः होने वाला है; अजः—अजन्मा; नित्यः—नित्य; शाश्वतः—स्थायी; अयम्—यह; पुराणः—सबसे प्राचीन; न—नहीं; हन्यते—मारा जाता है; हन्यमाने—मारा जाकर; शरीरे—शरीर में।

आत्मा के लिए किसी भी काल में न तो जन्म है न मृत्यु। वह न तो कभी जन्मा है, न जन्म लेता है और न जन्म लेगा। वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत तथा पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर वह मारा नहीं जाता।

तात्पर्य : गुणात्मक दृष्टि से, परमात्मा का अणु-अंश परम से अभिन्न है। वह शरीर की भाँति विकारी नहीं है। कभी-कभी आत्मा को स्थायी या कूटस्थ कहा जाता है। शरीर



में छह प्रकार के रूपान्तर होते हैं। वह माता के गर्भ से जन्म लेता है, कुछ काल तक रहता है, बढ़ता है, कुछ परिणाम उत्पन्न करता है, धीरे-धीरे क्षीण होता है और अन्त में समाप्त हो जाता है। किन्तु आत्मा में ऐसे परिवर्तन नहीं होते। आत्मा अजन्मा है, किन्तु चूँकि वह भौतिक शरीर धारण करता है, अतः शरीर जन्म लेता है। आत्मा न तो जन्म लेता है, न मरता है। जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी होती है। और चूँकि आत्मा जन्म नहीं लेता, अतः उसका न तो भूत है, न वर्तमान या भविष्य। वह नित्य, शाश्वत तथा सनातन है—अर्थात् उसके जन्म लेने का कोई इतिहास नहीं है। हम शरीर के प्रभाव में आकर आत्मा के जन्म, मरण आदि का इतिहास खोजते हैं। आत्मा शरीर की तरह कभी भी वृद्ध नहीं होता, अतः तथाकथित वृद्ध पुरुष भी अपने में बाल्यकाल या युवावस्था जैसी अनुभूति पाता है। शरीर के परिवर्तनों का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आत्मा वृक्ष या किसी अन्य भौतिक वस्तु की तरह क्षीण नहीं होता। आत्मा की कोई उपसृष्टि नहीं होती। शरीर की उपसृष्टि संतानें हैं और वे भी व्यष्टि आत्माएँ हैं और शरीर के कारण वे किसी न किसी की संतानें प्रतीत होते हैं। शरीर की वृद्धि आत्मा की उपस्थिति के कारण होती है, किन्तु आत्मा के न तो कोई उपवृद्धि है न ही उसमें कोई परिवर्तन होता है। अतः आत्मा शरीर के छः प्रकार के परिवर्तन से मुक्त है।

कठोपनिषद् में (१.२.१८) इसी तरह का एक श्लोक आया है—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

इस श्लोक का अर्थ तथा तात्पर्य भगवद्गीता के श्लोक जैसा ही है, किन्तु इस श्लोक में एक विशिष्ट शब्द विपश्चित् का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है विद्वान् या ज्ञानमय।

आत्मा ज्ञान से या चेतना से सदैव पूर्ण रहता है। अतः चेतना ही आत्मा का लक्षण है। यदि कोई हृदयस्थ आत्मा को नहीं खोज पाता तब भी वह आत्मा की उपस्थिति को चेतना की उपस्थिति से जान सकता है। कभी-कभी हम बादलों या अन्य कारणों से आकाश में सूर्य को नहीं देख पाते, किन्तु सूर्य का प्रकाश सदैव विद्यमान रहता है, अतः हमें विश्वास हो जाता है कि यह दिन का समय है। प्रातःकाल ज्योंही आकाश में थोड़ा सा सूर्यप्रकाश दिखता है तो हम समझ जाते हैं कि सूर्य आकाश में है। इसी प्रकार चूँकि शरीरों में, चाहे पशु के हों या पुरुषों के, कुछ न कुछ चेतना रहती है, अतः हम आत्मा की उपस्थिति को जान लेते हैं। किन्तु जीव की यह चेतना परमेश्वर की चेतना से भिन्न है क्योंकि परम चेतना तो सर्वज्ञ है—भूत, वर्तमान तथा भविष्य के ज्ञान से पूर्ण। व्यष्टि जीव की चेतना विस्मरणशील है। जब वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है, तो उसे कृष्ण के उपदेशों से शिक्षा तथा प्रकाश और बोध प्राप्त होता है। किन्तु कृष्ण विस्मरणशील जीव नहीं हैं। यदि वे ऐसे होते तो उनके द्वारा दिये गये भगवद्गीता के उपदेश व्यर्थ होते।

आत्मा के दो प्रकार हैं—एक तो अणु-आत्मा और दूसरा विभु-आत्मा। कठोपनिषद् में (१.२.२०) इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—



अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥

“परमात्मा तथा अणु-आत्मा दोनों शरीर रूपी उसी वृक्ष में जीव के हृदय में विद्यमान हैं और इनमें से जो समस्त इच्छाओं तथा शोको से मुक्त हो चुका है वही भगवत्कृपा से आत्मा की महिमा को समझ सकता है।” कृष्ण परमात्मा के भी उद्गम हैं जैसा कि अगले अध्यायों में बताया जायेगा और अर्जुन अणु-आत्मा के समान है जो अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया है। अतः उसे कृष्ण द्वारा या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि गुरु द्वारा प्रबुद्ध किये जाने की आवश्यकता है।

**वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।**

**कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥**

वेद—जानता है; अविनाशिनम्—अविनाशी को; नित्यम्—शाश्वत; यः—जो; एनम्—इस (आत्मा); अजम्—अजन्मा; अव्ययम्—निर्विकार; कथम्—कैसे; सः—वह; पुरुषः—पुरुष; पार्थ—हे पार्थ (अर्जुन); कम्—किसको; घातयति—मरवाता है; हन्ति—मारता है; कम्—किसको।

हे पार्थ! जो व्यक्ति यह जानता है कि आत्मा अविनाशी, अजन्मा, शाश्वत तथा अव्यय है, वह भला किसी को कैसे मार सकता है या मरवा सकता है?

तात्पर्य : प्रत्येक वस्तु की समुचित उपयोगिता होती है और जो ज्ञानी होता है वह जानता है कि किसी वस्तु का कहाँ और कैसे प्रयोग किया जाय। इसी प्रकार हिंसा की भी अपनी उपयोगिता है और इसका उपयोग इसे जानने वाले पर निर्भर करता है। यद्यपि हत्या करने वाले व्यक्ति को न्यायसंहिता के अनुसार प्राणदण्ड दिया जाता है, किन्तु न्यायाधीश को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है, क्योंकि वह न्यायसंहिता के अनुसार ही दूसरे व्यक्ति पर हिंसा किये जाने का आदेश देता है। मनुष्यों के विधि-ग्रंथ मनुसंहिता में इसका समर्थन किया गया है कि हत्यारे को प्राणदण्ड देना चाहिए जिससे उसे अगले जीवन में अपना पापकर्म भोगना न पड़े। अतः राजा द्वारा हत्यारे को फाँसी का दण्ड एक प्रकार से लाभप्रद है। इसी प्रकार जब कृष्ण युद्ध करने का आदेश देते हैं तो यह समझना चाहिए कि यह हिंसा परम न्याय के लिए है और इस तरह अर्जुन को इस आदेश का पालन यह समझकर करना चाहिए कि कृष्ण के लिए किया गया युद्ध हिंसा नहीं है क्योंकि मनुष्य या दूसरे शब्दों में आत्मा को मारा नहीं जा सकता। अतः न्याय के हेतु तथाकथित हिंसा की अनुमति है। शल्यक्रिया का प्रयोजन रोगी को मारना नहीं अपितु उसको स्वस्थ बनाना है। अतः कृष्ण के आदेश पर अर्जुन द्वारा किया जाने वाला युद्ध पूरे ज्ञान के साथ हो रहा है, उससे पापफल की सम्भावना नहीं है।

**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय**

**नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।**

**तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य-**

**न्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥**



वासांसि—वस्त्रों को; जीर्णानि—पुराने तथा फटे; यथा—जिस प्रकार; विहाय—त्याग कर; नवानि—नए वस्त्र; ग्रहणाति—ग्रहण करता है; नरः—मनुष्य; अपराणि—अन्य; तथा—उसी प्रकार; शरीराणि—शरीरों को; विहाय—त्याग कर; जीर्णानि—वृद्ध तथा व्यर्थ; अन्यानि—भिन्न; संयाति—स्वीकार करता है; नवानि—नये; देही—देहधारी आत्मा।

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने तथा व्यर्थ के शरीरों को त्याग कर नवीन भौतिक शरीर धारण करता है।

तात्पर्य : अणु-आत्मा द्वारा शरीर का परिवर्तन एक स्वीकृत तथ्य है। आधुनिक विज्ञानीजन तक, जो आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते, पर साथ ही हृदय से शक्ति-साधन की व्याख्या भी नहीं कर पाते, उन परिवर्तनों को स्वीकार करने को बाध्य हैं, जो बाल्यकाल से कौमारावस्था और फिर तरुणावस्था तथा वृद्धावस्था में होते रहते हैं। वृद्धावस्था से यही परिवर्तन दूसरे शरीर में स्थानान्तरित हो जाता है। इसकी व्याख्या एक पिछले श्लोक में (२.१३) की जा चुकी है।

अणु-आत्मा का दूसरे शरीर में स्थानान्तरण परमात्मा की कृपा से सम्भव हो पाता है। परमात्मा अणु-आत्मा की इच्छाओं की पूर्ति उसी तरह करते हैं जिस प्रकार एक मित्र दूसरे की इच्छापूर्ति करता है। मुण्डक तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों में आत्मा तथा परमात्मा की उपमा दो मित्र पक्षियों से दी गई है जो एक ही वृक्ष पर बैठे हैं। इनमें से एक पक्षी (अणु-आत्मा) वृक्ष के फल को खा रहा है और दूसरा पक्षी (कृष्ण) अपने मित्र को देख रहा है। यद्यपि दोनों पक्षी समान गुण वाले हैं, किन्तु इनमें से एक भौतिक वृक्ष के फलों पर मोहित है, किन्तु दूसरा अपने मित्र के कार्यकलापों का साक्षी मात्र है। कृष्ण साक्षी पक्षी हैं, और अर्जुन फल-भोक्ता पक्षी। यद्यपि दोनों मित्र (सखा) हैं, किन्तु फिर भी एक स्वामी है और दूसरा सेवक है। अणु-आत्मा द्वारा इस सम्बन्ध की विस्मृति ही उसके एक वृक्ष से दूसरे पर जाने या एक शरीर से दूसरे में जाने का कारण है। जीव आत्मा प्राकृत शरीर रूपी वृक्ष पर अत्यधिक संघर्षशील है, किन्तु ज्योंही वह दूसरे पक्षी को परम गुरु के रूप में स्वीकार करता है—जिस प्रकार अर्जुन कृष्ण का उपदेश ग्रहण करने के लिए स्वेच्छा से उनकी शरण में जाता है—त्योंही परतन्त्र पक्षी तुरन्त सारे शोकों से विमुक्त हो जाता है। मुण्डक-उपनिषद् (३.१.२) तथा श्वेताश्वतर-उपनिषद् (४.७) समान रूप से इसकी पुष्टि करते हैं—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

“यद्यपि दोनों पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, किन्तु फल खाने वाला पक्षी वृक्ष के फल के भोक्ता रूप में चिन्ता तथा विषाद में निमग्न है। यदि किसी तरह वह अपने मित्र भगवान् की ओर उन्मुख होता है और उनकी महिमा को जान लेता है तो वह कष्ट भोगने वाला पक्षी तुरन्त समस्त चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है।” अब अर्जुन ने अपना मुख अपने शाश्वत मित्र कृष्ण की ओर फेरा है और उनसे भगवद्गीता समझ रहा है।



इस प्रकार वह कृष्ण से श्रवण करके भगवान् की परम महिमा को समझ कर शोक से मुक्त हो सकता है।

यहाँ भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया है कि वह अपने पितामह तथा गुरु के देहान्तरण पर शोक प्रकट न करे अपितु उसे इस धर्मयुद्ध में उनके शरीरों का वध करने में प्रसन्न होना चाहिए, जिससे वे सब विभिन्न शारीरिक कर्म-फलों से तुरन्त मुक्त हो जायँ। बलिवेदी पर या धर्मयुद्ध में प्राणों को अर्पित करने वाला व्यक्ति तुरन्त शारीरिक पापों से मुक्त हो जाता है और उच्च लोक को प्राप्त होता है। अतः अर्जुन का शोक करना युक्तिसंगत नहीं है।

**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।**

**न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥**

न—कभी नहीं; एनम्—इस आत्मा को; छिन्दन्ति—खण्ड-खण्ड कर सकते हैं; शस्त्राणि—हथियार; न—कभी नहीं; एनम्—इस आत्मा को; दहति—जला सकता है; पावकः—अग्नि; न—कभी नहीं; च—भी; एनम्—इस आत्मा को; क्लेदयन्ति—भिगो सकता है; आपः—जल; न—कभी नहीं; शोषयति—सुखा सकता है; मारुतः—वायु।

यह आत्मा न तो कभी किसी शस्त्र द्वारा खण्ड-खण्ड किया जा सकता है, न अग्नि द्वारा जलाया जा सकता है, न जल द्वारा भिगोया या वायु द्वारा सुखाया जा सकता है।

तात्पर्य : सारे हथियार—तलवार, आग्नेयास्त्र, वर्षा के अस्त्र, चक्रवात आदि आत्मा को मारने में असमर्थ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक आग्नेयास्त्रों के अतिरिक्त मिट्टी, जल, वायु, आकाश आदि के भी अनेक प्रकार के हथियार होते थे। यहाँ तक कि आधुनिक युग के नाभिकीय हथियारों की गणना भी आग्नेयास्त्रों में की जाती है, किन्तु पूर्वकाल में विभिन्न पार्थिव तत्त्वों से बने हुए हथियार होते थे। आग्नेयास्त्रों का सामना जल के (वरुण) हथियारों से किया जाता था, जो आधुनिक विज्ञान के लिए अज्ञात हैं। आधुनिक विज्ञान को चक्रवात हथियारों का भी पता नहीं है। जो भी हो, आत्मा को न तो कभी खण्ड-खण्ड किया जा सकता है, न किन्हीं वैज्ञानिक हथियारों से उसका संहार किया जा सकता है, चाहे उनकी संख्या कितनी ही क्यों न हो।

मायावादी इसकी व्याख्या नहीं कर सकते कि जीव किस प्रकार अपने अज्ञान के कारण उत्पन्न हुआ और तत्पश्चात् माया की शक्ति से आवृत हो गया। न ही आदि परमात्मा से जीवों को विलग कर पाना सम्भव था, प्रत्युत सारे जीव परमात्मा से विलग हुए अंश हैं। चूँकि वे सनातन अणु-आत्मा हैं, अतः माया द्वारा आवृत होने की उनकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है और इस तरह वे भगवान् की संगति से पृथक् हो जाते हैं, जिस प्रकार अग्नि के स्फुलिंग अग्नि से विलग होते ही बुझ जाते हैं, यद्यपि इन दोनों के गुण समान होते हैं। वराह पुराण में जीवों को परमात्मा का भिन्न अंश कहा गया है। भगवद्गीता के अनुसार भी वे शाश्वत रूप से ऐसे ही हैं। अतः मोह से मुक्त होकर भी जीव पृथक् अस्तित्व रखता है, जैसा कि कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गये उपदेशों से